

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178926

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83.1
K46 O

Accession No. H3314

Author मिश्र, राजेन्द्र

Title श्री मत्स्यगंधा 1959

This book should be returned on or before the date
last marked below.

ओ मत्स्यगंधा !



राजेन्द्र किशोर

कि ता व म ह ल

इलाहाबाद, बम्बई, दिल्ली

१९५६

प्रकाशक—किताब महल, ५६ ए, जीरो रोड, इलाहाबाद ।

मुद्रक—अनुपम प्रेस, १७ जीरो रोड, इलाहाबाद ।

लेखकीय

इसमें कहानियों का रचना-क्रम के अनुसार संग्रह किया गया है। आशा है, इससे पाठकों को मेरे विकास को ठीक-ठीक समझने की सुविधा होगी।

हरेन्द्र भवन,
सलेमपुर, छपरा।

२४. १०. ५८

राजेन्द्र किशोर

क्रम

रेखा का भाग्य	१
बीड़े-मकोड़े	१३
मछुन्दर का मोह	२६
पति-परमेश्वर	४५
अनीता	६३
रेणु की गुड़िया का दूल्हा	७६
संख्या का निर्णय	६१
संभव उर्फ जॉनसन की ट्रेजेडी	१०१
अप्रत्याशित	११५
लिबा की माँ	१२७
अप्रत्याकृति	१४१
मृत्यु नहीं	१६१
ओ मत्स्यगंधा !	१७५

रेखा का भाग्य

[...आधी रात के बाद उनकी आँखें मँपीं तो बड़ा भयानक सपना देखने लगे । देखा कि रेखा किसी के साथ भाग गई है और सारा समाज, सारा मुहक्का उनकी हज्जत, उनके नाम पर थूक रहा है ।...]

मुखलाल बाबू दफ्तर से लौटे तो बिल्कुल थक गए थे। आते ही अपना पुराना कोट उतारा, जूता निकाल कर खटिया के नीचे खसका दिया और धम से बिस्तर पर पड़ रहे।

वे कचहरी में किरानी हैं, बड़े बाबू बीस वर्ष नौकरी करने के बाद अब सवा सौ रुपये माहवार पाते हैं। घर में बीवी है, दो जवान लड़कियाँ हैं, जिनकी शादी में बहुत देर हो चुकी है, दो छोटी लड़कियाँ हैं—दस और सात साल की, जो चार-पाँच साल के बाद मुसीबत हो जायेंगी और दो नन्हें बच्चे हैं, पाँच और तीन साल के, जिनसे अभी कुछ भी उम्मीद नहीं की जा सकती। इन मँहगाई के दिनों में बड़े बाबू दिन-रात खट कर जो सवा सौ रुपये घर ले आते हैं, उनसे परिवार के खाने-पीने की समस्या भी हल नहीं होती।

पत्नी ने आकर टोका—“ऐसे पड़ क्यों गए? चाय नहीं पियोगे क्या? पकौड़ियाँ बनाई हैं, खाओगे?”

बड़े बाबू ने लेटे-लेटे ही कहा—“बड़ा थक गया हूँ। उठने को जरा भी जी नहीं करता। यहीं लेती आओ न।”

पत्नी ने ‘अच्छा’ कहा और चली गई। बड़े बाबू को कभी-कभी पत्नी

ओ मत्स्यगंधा !

की सूरत देख कर बड़ी पीड़ा होती है। कितनी दुबली होती जा रही है रोज-रोज। पहले की बातें उनका मर्म कुरेद देती हैं। जब वे लीला को ब्याह कर लाए थे तब वे कालेज में बी० ए० में पढ़ते थे। कालेज के वातावरण की रंगीनी में उनके सपने पलते थे। सुहागरात के दिन ही उन्होंने पत्नी से कहा था—“एक दिन जब मैं पढ़ना समाप्त करके नौकरी कर लूँगा तब मोटर रखूँगा, बँगला होगा, नौकर-चाकर होंगे और हम तुम मिलकर अपनी दुनिया बसायेंगे—नई और रंगीन दुनिया। हमारे बच्चे पढ़ेंगे-लिखेंगे, नाम करेंगे।”...मगर वह सब कुछ भी नहीं हुआ; बँगले की जगह एक दो कोठरीवाला, फूस की छतवाला मकान किराए पर लेना पड़ा, जिसमें परिवार के बढ़ने के साथ-साथ रहने की जगह कम होने लगी। मोटर की साध तो मन में ही रही। हाँ, नई दुनिया जरूर बसी। पचास रुपये की नौकरी मिली और जिंदगी की दौड़ आरम्भ हो गई। बच्चे हुए, आवश्यकताओं की वृद्धि हुई, पैसों की किल्लत होने लगी और मन का चैन दूर हो गया। मगर तभी विचारों की कड़ी टूट गई। पत्नी ने आकर खटिया के पास पड़ी एक पुरानी रंग-उड़ी स्टूल पर छीपी में पकौड़ियाँ और गिलास में चाय रख दी, जिसमें दूध का अभाव स्पष्ट दीख रहा था।

बड़े बाबू को आखिर उठना ही पड़ा। शरीर को एक झटका देकर उठे और पकौड़ियों की छीपी की ओर हाथ बढ़ा दिया।

पत्नी ने पास बैठते हुए पूछा—“रामनरेश बाबू के यहाँ गए थे ? क्या कह रहे थे वे ? शादी के लिए राजी हैं या नहीं ?”

बड़े बाबू ने आहिस्ता से जवाब दिया—“आज नहीं जा सका। काम में ही फँसा रह गया। कल जाऊँगा।”

“मगर रोज-रोज कल कहने से कैसे होगा ?” पत्नी ने कहा—“लड़की की उमर जरूरत से ज्यादा हो गई है। इस साल तो ब्याह करना ही होगा।”

“मैं क्या बाज आता हूँ कोशिश से ?” बड़े बाबू का स्वर कुछ भारी हो आया—“चार साल से तो दौड़ रहा हूँ । मगर बात बनती ही नहीं । लड़की के भाग्य में यही लिखा है, तो क्या कर सकता हूँ ।”

“अपना-अपना भाग्य है और क्या ?” कहते हुए उनकी पत्नी उठ खड़ी हुई—“और पकौड़ियाँ लोगे ? लाऊँ ?”

बड़े बाबू ने हाथ के इशारे से मना करते हुए कहा—“नहीं, अब रहने दो । सब मैं ही खा जाऊँगा तो बच्चे क्या खाएँगे ?” और उन्होंने चाय का गिलास होठों से लगा लिया । पत्नी ने छीपी उठायी और घर का काम-काज करने चली गई ।

बड़े बाबू को अब कुछ ताकत मालूम हुई । वे उठे, जूता निकाल कर पाँव में डाला । कोट पहना और कमरे से बाहर निकल आए । बरामदे पर आकर उन्होंने पत्नी को पुकारकर कहा—“मैं जरा जलेश्वर बाबू के यहाँ जा रहा हूँ ।” और गली में उतर आए ।

गली में काफी अँधेरा था । कहीं-कहीं दीया या लालटेन की रोशनी खिड़कियों से आकर उसे प्रकाशित करने का प्रयत्न अवश्य कर रही थी, लेकिन उससे अँधेरे का व्यक्तित्व और गहन होता जा रहा था । एकाध लोग इधर-उधर अवश्य आ-जा रहे थे, नहीं तो गली की चेतनता समाप्त-प्राय हो चली थी ।

बड़े बाबू के कदम बढ़ते चले जा रहे थे—आहिस्ता-आहिस्ता । दिमाग में विचारों की आँधी उन्हें बहाए लिए जा रही थी ।...उनकी पत्नी दिन-पर-दिन सूखती जा रही है । उसके बदन पर लिपटा चिथड़ा और भी भाँभर होता जा रहा है । बड़ी बेटी रेखा बाइस वर्ष की हो गई है । अब तक उसकी शादी हो जानी चाहिए थी । मगर नहीं हो सकी । अपना-अपना भाग्य, और क्या ? कितने दरवाजे उन्होंने खटखटाए, मगर कुछ भी नहीं हो सका । रामबचन बाबू से बड़ी उम्मीद थी । उनका बेटा हरीश

ओ मत्स्यगंधा !

बी० ए० पास कर चुका था। सुन्दर था। स्वस्थ। एक सौ पचास की नौकरी करता था। आगे उसकी तरक्की भी जरूर होती। मगर रामबचन बाबू साफ इन्कार कर गए। उनके लड़के से ब्याह करने के लिए दस हजार रुपए नकद चाहिए। पाँच हजार का गहना, दो हजार का तिलक, एक हजार बारात के आने-जाने का खर्च और दो हजार बारात के स्वागत के लिए। सुखलाल बाबू ने रामबचन बाबू के पैर थाम लिए—“रामबचन, तुम मेरे बचपन के दोस्त हो। तुम मेरी सहायता न करोगे, तो कौन करेगा? बचपन की बातें तुम भूल गए क्या? हमने कसम खायी थी कि हम एक-दूसरे की मुसीबत के दिनों में अपनी जान देकर भी सहायता करेंगे। यह मेरी इज्जत का सवाल है रामबचन, इज्जत का सवाल है।...” मगर रामबचन बाबू तनिक भी न डिगे। उन्होंने कहा—“मैं क्या कर सकता हूँ, सुखलाल! मेरी तीन बेटियाँ ब्याह देने लायक हो गई हैं। मुझे उनका ब्याह करना है। हरीश से जो मैं लूँगा, वह उनको दे दूँगा। कोई अपने लिए तो माँग नहीं रहा। क्या मेरी बेटियाँ तुम्हारी नहीं हैं?...” सुखलाल बाबू ने पैर छोड़ दिए—“हाँ, रामबचन, तुम्हारी बेटियाँ, मेरी बेटियाँ हैं।” और वे उठकर वहाँ से चले आए।

इसके बाद फिर पचासों के घर दौड़े, मगर कोई लाभ नहीं हुआ। लगन के दिन आए और चले गए। रामनरेश बाबू से बड़ी उम्मीद है। उम्मीद ही पर तो दुनिया चलती है। बाकी अपना-अपना भाग्य।

गली की मोड़ पर आकर सुखलाल बाबू का ध्यान टूटा। यहाँ से पक्की सड़क शुरू होती है जिसके दोनों ओर लोहे के खम्भे लगे हैं, जिन पर बिजली का बल्ब जलता है। दोनों ओर बिजली की बड़ी-बड़ी इमारतें हैं—भड़कदार। यहाँ से एक नई दुनिया शुरू होती है। कौन कहता है कि दुनिया एक है? दुनिया दो है—एक गली में, जिसमें बिजली के बल्ब नहीं जलते, काफ़ी अँधेरा छाया रहता है, दूसरी सड़क पर, जहाँ बड़ी-बड़ी

हमारते हैं, बिजली के खम्भे हैं, बल्ब हैं और जहाँ केवल प्रकाश रहता है।
(यह वह सड़क है जिस पर बड़े बाबू सिर झुकाए चलते हैं।)

इस सड़क पर गली का स्नापन नहीं है। चहल-पहल है। सरसराती हुई निकल जाने वाली मोटरें। चमकती हुई निकल जाने वाली भड़कदार औरतों का हुजूम, बूटों की चरमर, उल्लास, हँसी, उमंगों का आलम—यानी पैसा, पैसा, पैसा। यह सड़क सेठ छेदीराम मल रोड के नाम से पुकारी जाती है। इसी सड़क पर सेठ छेदीमल के कपड़ों की दूकान है। बड़े बाबू के कदमों की रफ्तार कुछ तेज हो गई। थोड़ी देर में वे उस चौराहे पर आ गए, जहाँ से दुनिया फिर दो भागों में बँट जाती है। वे दायीं ओर मुड़े और कुछ दूर तक चल कर एक गली में प्रवेश कर रुक गए। इस गली में भी अँधेरा था। इसी में जलेश्वर बाबू रहते हैं, जो सेठ छेदीमल की दूकान में काम करते हैं। सुखलाल बाबू और जलेश्वर बाबू में काफ़ी पटती है। अक्सर सुखलाल बाबू जलेश्वर बाबू के यहाँ बैठकर अपने दुःख-सुख की चर्चा करते हैं।

जलेश्वर बाबू के मकान पर पहुँचकर सुखलाल बाबू ने आवाज दी। एक छोटी-सी लड़की निकली। सुखलाल बाबू ने प्यार से उसके माथे पर हाथ फेरते हुए पूछा—

“बाबू जी हैं, बेटी ?”

“हाँ।”

“क्या कर रहे हैं ? जरा जाकर कहो कि चाचा आए हैं।”

वह लड़की दौड़ती हुई चली गई।

थोड़ी देर में जलेश्वर बाबू बाहर निकले।

“तुम्हारा ही इन्तजार कर रहा था।” जलेश्वर बाबू ने कहा और उन्हें लेकर अन्दर चले गए।

जिस छोटे से कमरे में वे पहुँचे, वृह काफ़ी गंदा था। कागज के टुकड़े

ओ नत्स्यगंधा !

इधर-उधर कमरे में बिखरे पड़े थे। एक ओर एक चौकी पड़ी थी जिस पर एक पुरानी फटी दरी बिछी थी। झरोखे के पास पड़ी स्टूल पर एक टीन की डिबरी जल रही थी, जिसके चारों ओर मैल जम कर किचट गया था। उसमें से रोशनी से ज्यादा काला धुआँ ही निकल रहा था। जलेश्वर बाबू ने मुखलाल बाबू को उसी चौकी पर बिठा दिया और दरवाजे पर आकर बन्ची को आवाज दी—“बेटी, जरा माँ से कहना, चाचा के लिए चाय बना दे।”

बातों का खिलसिला आरम्भ किया जलेश्वर बाबू ने—“क्या बताऊँ भाई, आज जब मैं सेठजी के यहाँ काम पर जा रहा था कि लौटते समय थोड़ा आटा खरीद कर लेता आया। रात को रोटी ही खाता हूँ न, चावल तो नसीब होता नहीं। राशन का गेहूँ समाप्त हो चुका है, इसलिए आटा खरीदना पड़ा। जब घर आया, तो मैंने देखा कि आटा बिल्कुल खराब है। उसमें पिल्लू पड़े हैं। जब लौटाने ले गया, तो दूकानदार ने लौटाने से साफ इन्कार कर दिया। रुपया जो गया सो गया ही, दो बार बाजार भी दौड़ना पड़ा और आज रोटी भी नहीं मिल सकेगी।”

“खरीदते समय देख नहीं लिया था कि आटा कैसा है?”

“देखा था भाई, देखा था। किन्तु उसने जो दिखाया था, वह तो काफी अच्छा था। पर जो आटा उसने दिया, वह बिल्कुल खराब था।”

बड़े बाबू ने गम्भीर स्वर में कहा—“तुमने पुलिस में रिपोर्ट क्यों नहीं लिखायी?”

“अरे रिपोर्ट लिखा कर क्या होता?” जलेश्वर बाबू ने जवाब दिया—“पुलिस हमारी बात सुनती थोड़े ही। वह तो.....”

कि तभी बन्ची दो गिलास में चाय लिए आ पहुँची। जलेश्वर बाबू उठ खड़े हुए। डिबरी उतार कर नीचे रख दी और स्टूल लाकर चौकी के पास रख दी। बन्ची ने चाय स्टूल पर रख दी और चली गई।

चाय पीते हुए बड़े बाबू ने कहा—“ठीक कहते हो भाई । हमारा तो इस दुनिया में कोई नहीं है । जो अपने हैं, वे भी हमारे नहीं हैं । सारी दुनिया पैसों की है, पैसों की; तुम्हारे पास पैसे हैं तो सारा जहान तुम्हारा है, नहीं है तो कोई तुम्हें भूल से भी नहीं पूछेगा । क्या जमाना आ गया है । भगवान् ही जाने इस दुनिया का क्या होगा ।”

जलेश्वर बाबू का चेहरा गम्भीर हो आया । उन्होंने सिर झुका कर सोचना आरम्भ कर दिया । कमरे में कुछ देर तक चुप्पी छायी रही । यकायक जलेश्वर बाबू को कुछ याद आया । उन्होंने सुखलाल बाबू से पूछा—“रामनरेश बाबू से मिले थे ?”

सुखलाल बाबू ने धीरे से कहा—“मिलकर ही क्या होगा भाई । परिणाम तो मैं पहले से ही जानता हूँ !”

“मगर फिर भी कोशिश तो करनी चाहिए न ।” जलेश्वर बाबू ने विश्वास बँधाते हुए कहा—“उम्मीद पर तो दुनिया टिकी है । एक बार मिल कर देखो कि क्या कहते हैं । मुमकिन है कि वे राजी हो जाएँ ।”

“राजी तो कोई भी हो सकता है । पैसा चाहिए ।” सुखलाल बाबू ने कहा—“तुम जानते ही हो, मेरे पास उतने पैसे नहीं हैं । मैं पचास भर सोने का गहना नहीं दे सकता, इंगलैंड पढ़ने जाने का खर्च नहीं दे सकता, पाँच सौ बरातियों को खिला नहीं सकता । मैं कोई इंप्लुयेन्स वाला आदमी भी नहीं हूँ । फिर कैसे बात बन सकती है ? सब बेकार है । रामनरेश बाबू से मिलकर कोई लाभ नहीं होगा । रेखा का भाग्य ही खोटा है ।”

“हाँ, सो तो है ही ।” जलेश्वर बाबू ने धीरज बँधाते हुए कहा—“भाग्य पर किसका अधिकार है ? फिर भी, कल चलो । मैं भी चलूँगा । बातचीत करके देखें । भगवान् की कृपा हुई तो ठीक हो जायगा । इस तरह हिम्मत न हारनी चाहिये । आदमी का काम है कोशिश किए जाना । फल तो भगवान् के ह्वाथ में है ।”

ओ मत्स्यगंधा !

मुखलाल बाबू जब लौटे तब गली में अँधेरा और भी गहरा हो आया था । भरोखे बन्द हो गए थे । इसलिए उनसे होकर जो कहीं-कहीं प्रकाश की रेखाएँ निकल आती थीं, उनका भी अभाव था । गली में बिल्कुल सन्नाटा था । अपने विचारों में खोए बड़े बाबू कब सड़क पर निकल आए, इसका उन्हें पता ही नहीं चला । उनके विचारों को तोड़ कर उन्हें सजग किया एक मोटर के हॉर्न ने, जिससे वे पिसते-पिसते बचे । जब वे घर पहुँचे तो नौ से अधिक समय हो चुका था । कमरे में पत्नी उनके इंतजार में बैठी बच्चों की फटी कमीज सी रही थी । उन्हें देखते ही वह उठ खड़ी हुई—
“आज बड़ी देर लगा दी ?”

“जलेश्वर बाबू के यहाँ बातचीत में ही बहुत समय लग गया ।” बड़े बाबू ने कहा ।

खा-पी कर जब वे बिछावन पर जा पड़े तो पत्नी ने फिर याद दिलाई—
“देखो, कल रामनरेश बाबू के यहाँ जरूर जाना । तुम्हें क्या मालूम, रेखा दिन-रात अकेली बैठी रोती रहती है । बहुत उदास रहती है ।”

बड़े बाबू को लगा कि किसी ने दोनों हाथों से उनका गला दबा दिया है और वे चिल्लाना चाहते हैं, मगर चिल्ला नहीं पा रहे हैं । बहुत देर तक भीतर-ही-भीतर छटपटाने के बाद उनके मुख से एक शब्द निकला “हूँ ।”

रात को बहुत देर तक उन्हें नींद न आई । आँखों में बचपन, जवानी और आज के इस बुढ़ापे के चित्र नाचते रहे । आधी रात के बाद उनकी आँखें भरीं तो बड़ा भयानक सपना देखने लगे । देखा कि रेखा किसी के साथ भाग गई है और सारा समाज, सारा मुहल्ला उनकी इज्जत, उनके नाम पर थूक रहा है । रेखा की छोटी बहन मीरा गले में फाँसी का फंदा लगाकर झूल गई है । उनके बाकी बच्चे एक मोटर के नीचे दब कर पिस गए हैं । उन्होंने अपनी पत्नी को गला घोटकर मार डाला है और खूब जोर-जोर से हँस रहे हैं, चिल्ला रहे हैं, कूद रहे हैं, उछल रहे हैं । नींद में ही

उनकी घिग्घी बँध गई। गले से एक अजीब तरह की घरघराहट की आवाज निकलने लगी। पत्नी की नींद टूट गई। उसने उन्हें झुकझोर कर जगा दिया—“ए, सपना देख रहे हो क्या?”

चौक कर वे उठ बैठे—“ऊँ...हूँ...। सपना ही देख रहा था। बड़ा भयानक सपना था, बड़ा भयानक।”

उनका सारा शरीर भय से थरथर काँप रहा था और कपड़ा पसीने से भीग गया था। पत्नी ने आहिस्ता से पूछा—“क्या देख रहे थे?”

“ऐसे ही। बड़ा भयानक सपना था। तुमने जगा दिया। अच्छा किया।” उन्होंने पत्नी के शरीर पर हाथ फेरते हुए कहा—“अब तो याद नहीं पड़ता, नहीं तो बड़ा भयानक सपना था।”

इसके बाद दोनों रात भर न सो सके। दूसरे दिन बड़े बाबू का जी दफ्तर में बिल्कुल ही नहीं लगा। रह-रह कर उनकी आँखों के आगे सपने की भयङ्करता नाच-नाच उठती थी। कहीं वह सत्य हुआ?.....

शाम को दफ्तर से छुट्टी मिलते ही वे जलेश्वर बाबू के यहाँ पहुँचे। उनको साथ लिया और रामनरेश बाबू की ओर चल पड़े। रास्ते में कोई कुछ नहीं बोला। बड़े बाबू अपने विचारों में उलझे रहे।

रामनरेश बाबू के डेरे पर पहुँच कर बड़े बाबू ने आवाज लगायी। एक नौकर निकला। उससे संदेशा भेज दिया गया। मिलना है। जरूरी काम है। वे बाहर निकले। दोनों ओर से नमस्ते का शिष्टाचार निभाया गया। रामनरेश बाबू ने बैठने का इशारा करते हुए कहा—“कहिए कैसे आना हुआ?”

बड़े बाबू के मुँह से कोई शब्द नहीं निकल सका। स्थिति को सँभाला जलेश्वर बाबू ने—“शादी की बातचीत करने आए हैं।”

रामनरेश बाबू का चेहरा गम्भीर हो आया—“मुझे दुःख है कि मैं

ओ मत्स्यगंधा !

आप लोगों की कोई सहायता नहीं कर सकता । आप जरा देर से आए । कल मैंने एक-दूसरे व्यक्ति को वचन दे दिया ।”

बड़े बाबू के ऊपर जैसे बिजली गिर पड़ी । किसी तरह अपने को सँभाला । कुछ क्षण साधारण शिष्टाचार की बातें करने के बाद दोनों उठे और चल पड़े । सुखलाल बाबू के तो पैर उठाए नहीं उठ रहे थे । ऐसा लगता था कि पैरों में किसी ने पहाड़ बाँध दिया हो ।

जलेश्वर बाबू ने धैर्य बँधाते हुए कहा—“सोचने क्या लगे सुखलाल ? एक वही लड़का तो है नहीं । दुनिया में हजारों लड़के हैं । भगवान् ने जब लड़की दी है तो उसका वर भी जरूर दिया होगा । किसी दूसरी जगह कोशिश करके देखेंगे ।”

बड़े बाबू ने कोई जवाब नहीं दिया । उनकी आँखें भर आयी थीं और उनका गला रँध गया था । उनकी चेतना में स्वर उत्पन्न करने की प्रेरक शक्ति बेहोश हो गई थी ।

घर पहुँचे तो पत्नी ने अपना पुराना प्रश्न दुहरा दिया—“आज भी बड़ी देर लगा दी ?”

लाख रोकने पर भी उनके मुँह से निकल ही गया—“रामनरेश बाबू के यहाँ चला गया था । इसी से देर हो गई ।”

पत्नी का चेहरा गम्भीर हो आया—“क्या बातचीत हुई । क्या कहा उन्होंने ?”

बड़े बाबू ने भराए स्वर में जवाब दिया—“क्या कहते ? पहले ही किसी को वचन दे दिया था ।”

पत्नी की आँखों में आँसू भरने लगे—“तुम्हें पहले ही मिलना चाहिये था । मैं तुम्हें रोज कहती थी, मगर तुम नहीं मिले । भगवान् जानें, रेखा के भाग्य में क्या है ।”

बड़े बाबू ने कुछ नहीं कहा, केवल उनकी निराश, विवश, सजल आँखें पत्नी के चेहरे पर जाकर टिक गईं ।

कीड़े-मकोड़े

[.. ...सोनिया जवान छोकरी है—रसभरी । एक-एक घर में उसकी पैठ है । उसे अपने माँ-बाप का नाम मालूम नहीं, वैसे वह हजारों नाम गिना सकती है, आप उनमें से किसी दो को चुन ले सकते हैं ।.....]

इस महल्ले को लोग लखीमा कहते हैं। इसका यह नाम क्यों पड़ा और इसका अर्थ क्या होता है—यह खोज का विषय है। इस महल्ले के रहने-वालों को भी इसका पता नहीं। कभी कोई पूछ भी बैठता है तो उसे पहले एक आश्चर्यभरी हँसी का सामना करना पड़ता है, फिर उत्तर मिलता है—इसे लोग यही कहते हैं।

ऐसे इस महल्ले की अपनी विशेषता है। शहर के जितने भी लफंगे-लुच्चे, चोर, बदमाश, आवारा हैं, सब यहीं रहते हैं। जितनी बीमारियाँ हैं, सभी का घर है यह। बिना किसी रोक-टोक के वे आकर यहाँ बस जाती हैं। किन्तु चाहे कुछ भी हो, महल्लेवाले अपने चेहरे की रौनक कभी नहीं जाने देंगे।

इस महल्ले के लोगों में कालू, सोनिया, सोमा, रशीद, अख्तर, रजिया आदि ने काफी नाम पैदा किया है। कालू का कहना है कि सब मिलाकर उसने बारह साल की कैद की सजा भुगती है। अख्तर तो महीने में कम-से-कम दो बार हाजत में हाजरी जरूर दे आता है, आप उसके शरीर पर बने

ओ मत्स्यगंधा !

निशानों को गिन सकते हैं। सोनिया जवान छोकरी है—रसभरी। एक-एक घर में उसकी पैठ है। उसे अपने माँ-बाप का नाम मालूम नहीं, वैसे वह हजारों नाम गिना सकती है, आप उनमें से किसी दो को चुन ले सकते हैं। इस सोनिया में एक विशेषता है। फैशन के मामले में वह हॉलीवुड के स्टारों से भी सौ कदम आगे रहती है। कभी आप उसे खाली साड़ी पहने, छाती उभारे घूमते देखेंगे, कभी छाती ढँके, मगर शरीर का ज्यादा हिस्सा उधारे घूमते पाएँगे। पैंट और कमीज तो उसकी साधारण पोशाक है। वैसे वह साड़ी पहनना ज्यादा पसन्द करती है और रात को तो साड़ी ही पहन कर शहर की जगमगाती रोशनी में घूमने जाया करती है। उसे दुख इसी बात का है कि उसके पास एक ही साड़ी है। उसका दावा है कि जितना लोग खट-खुट कर नहीं कमा सकते, उतना वह बिना तिनका सरकाए केवल घूम कर कमा ले सकती है। आप उसके इस दावे को चैलेंज कीजिएगा तो गाली सुनिएगा।

सोमा सोनिया की छोटी बहन है—यह सोनिया कहती है। वैसे इसका उसके पास कोई सबूत नहीं है। चूँकि सोनिया कहती है, इसलिए कोई मानने से इन्कार नहीं करता। सोमा सोनिया से पाँच-सात वर्ष छोटी है और जवानी के रास्ते पर बड़ी तेजी से भाग रही है। सोमा का सारा महत्व उसकी आँखों के रस के कारण है। कालू रोज उसकी आँखों की चर्चा करता है और सीने पर हाथ रख कर हाय-हाय चिल्लाता है। सोमा भी इसको जानती है और इसका खूब प्रयोग करती है।

एक दिन सोमा रजिया से बहुत धीरे से कह रही थी कि वह सोनिया के साथ नहीं रहेगी, क्योंकि इससे उसे बड़ा घाटा है। यह बात सोनिया को बिल्कुल मालूम नहीं है। अभी वह और भी कुछ कहती, मगर तभी रजिया को दूर से हकीम साहब नजर आए और उसने जल्दी सोमा को रुब्रसत कर दिया और दौड़ कर अपने कमरे में चली गई। जाने क्यों

हकीम साहब रजिया से रोज मिलने आते हैं—और वह भी काफी झुटपुटे में, अकेले !

रजिया जवान तो नहीं है, लेकिन अपने को वह जवान ही कहती है । वह अख्तर की बहन है । इसका प्रमाण तो उसके पास मौजूद है, लेकिन उससे न कोई प्रमाण माँगता है, न वह प्रस्तुत करती है । गोल-गोल मगर छितरायी-सी आँखें, ढलने को आतुर यौवन, शोख चाल एवं स्याह रंग । वह काम चल जाने भर कमा लेती है । ब्याह नहीं करेगी ।

अख्तर काम-काजवाला आदमी है । उसे कभी फुर्सत नहीं रहती । दिन भर वह बाजार में घूमता रहता है । उसके कमरे में पड़ी छोटी-सी सूटकेस में, जो टीन की है, सैकड़ों मनीबेगें पड़ी हैं । वे उसकी अपनी सम्पत्ति हैं—सिद्ध हाथों की कमाई, मगर सब-की-सब खाली । वह जवान है—उम्र में रजिया से छोटा । वह खूब पीता है, लेकिन उसे आप कभी नशे में नहीं पाइएगा । उसे बस अपने काम से काम है, दूसरों से कोई मतलब नहीं । पकड़ाया तो जेल में और न पकड़ाया तो रात को अपने छोटे से कमरे में सो रहता है । उसी कमरे में रजिया भी सोती है । केवल बीच में एक फटी लुंगी आड़ करने के लिए डोरी पर डाल दी जाती है । कभी-कभी जब रात में उसकी नींद टूटती है, कमरे में किसी दूसरे व्यक्ति की फुसफुसाहट सुनता है, मगर वह जबर्दस्ती नींद बुलाकर और गहरी नींद में सो जाता है । सुबह उठकर वह रजिया से केवल उस व्यक्ति का नाम भर पूछ लेता है, शायद किसी दिन कोई काम पड़ जाए ।

मगर इस महल्ले में सबसे अजीब व्यक्तित्व है रशीद का । वह कहता है, उसका जन्म अफ्रीका में हुआ था । इसे कोई भी नहीं मानता । वह आजकल क्या करता है, किसी को मालूम नहीं । दिन भर आप उसे इसी महल्ले में चक्कर लगाते हुए देख सकते हैं । गोरा, भरा-सा शरीर, ऊँचा कद, चौड़ा सीना, लम्बी भुजाएँ और उस पर पेशावरी मूँछें । इस महल्ले

ओ मत्स्यगंधा !

के सभी व्यक्ति उससे डरते हैं, हालाँकि उसने आज तक इस महल्ले के किसी भी आदमी का कोई बुरा नहीं किया। लोग केवल उसके व्यक्तित्व के जाटपन से डरते हैं। वह बड़ा नेक आदमी है, बड़ा रहमदिल। महल्ले के बच्चे उसे चाचा कहते हैं। वह भी उन बच्चों को बड़ा प्यार करता है। दिन भर किसी-न-किसी बच्चे को गोद में उठाए फिरता है। मगर रात को वह इस महल्ले में कहीं नजर नहीं आता। वह रात के समय कहाँ चला जाता है, क्या करता है, उसकी जीविका कैसे चलती है— इसकी जानकारी हासिल करने की न किसी में उत्सुकता है, न किसी को फुसंत।

मुझे इस महल्ले में आए तीन महीने से अधिक समय हो चुका। मकान की खोज में दर-दर भटकने के बाद मैंने इस महल्ले की शरण ली है। मकान नामक कोई चीज तो मुझे इस महल्ले में नहीं मिली, लेकिन गुजारा करने भर एक फूस की छत और मिट्टी की दीवारवाली कोठरी मिल गई है। महल्ले का ध्यान रख कर ही, शायद इस कोठरी का किराया पाँच रुपए रखा गया है। मेरी तरह के आदमी के लिए, रुपए के हिसाब से, यह जगह कोई बुरी नहीं। चालीस रुपए तो तनख्वाह पाता हूँ, इससे अधिक किराया देना मेरे लिए सम्भव भी नहीं।

एक दिन की बात है। रविवार का दिन था। मुझे इस महल्ले में आए आठ-दस दिन हो गए थे। मैं अपनी उस छोटी-सी कोठरी में एक पुरानी रंग-उड़ी कुर्सी पर बैठा हुआ चार आने में खरीदे हिन्दी अखबार का विशेषांक पढ़ रहा था कि बाहर गली में बहुत-से लोगों की एक साथ बोलने की आवाज आई। मैं उठा। कमरे से बाहर आया। देखा कि ठीक मेरे कमरे के सामने गली में दो औरतें आपस में लड़ रही हैं। उन्हें घेरे बहुत-से लोग खड़े हैं। उस जमघट का एक-एक व्यक्ति कुछ-न-कुछ बोल रहा था। कुछ बातें तो सुनाई पड़ जाती थीं, कुछ नहीं। मैं अपनी उत्सुकता को न दबा सका। दरवाजा बन्द करके ताला लगा दिया और उस भीड़ के

पास जा पहुँचा। चुपचाप खड़ा-खड़ा देखने लगा। दोनों ओर से गालियों की रामायण के दोहे-सोरठे-चौपाइयाँ चुन-चुन कर पढ़ी जा रही थीं। वहाँ पर खड़े लोग उसकी टीका-टिप्पणी कर रहे थे (और अपनी सम्मति भी देते जा रहे थे।) दोनों पक्ष तौल में करीब-करीब बराबर थे। इसलिए, कोई निष्कर्ष नहीं निकल रहा था। करीब दो घण्टे बाद हार-जीत का फैसला हुए बिना अपने आप यह युद्ध समाप्त हो गया।

लोगों की भीड़ वहाँ से सरकने लगी। लेकिन अभी भी इस युद्ध का ठीक-ठीक कारण मुझे मालूम नहीं हो सका था, थोड़ा संकेत अवश्य मिल गया था। मैंने पास खड़े एक लम्बे-तगड़े गोरे जाट जैसे व्यक्ति से, जो मेरी ही ओर देख रहा था, पूछा—“भाई, ये औरतें आपस में क्यों लड़ रही थीं?” वह कुछ बोला नहीं। चुपचाप मुझे देखता रहा। मैंने मन में सोचा, शायद इसने मेरा प्रश्न नहीं सुना। मैंने अपना प्रश्न फिर दुहराया। इस बार उसने बड़ी गम्भीरता के साथ उत्तर दिया—“रजिया को श्यामू की माँ ने किसी बात पर रंडी कह दिया, बस इसी को लेकर लड़ाई हो गई। रोज ही होती है, यह कोई नई बात नहीं है।”

“रजिया ?.....श्यामू की माँ ?.....” मेरे होठों पर ये दोनों नाम प्रश्न के रूप में आ खड़े हुए।

“हाँ-हाँ, रजिया। उसे नहीं जानते क्या ? मालूम पड़ता है, आप इस महल्ले में नए आए हैं, नहीं तो इस महल्ले का एक-एक व्यक्ति उसका नाम जानता है। वह जो स्याह रंग की औरत थी न, जवान-सी, वह रजिया थी, और जो गोद में तीन-चार वर्ष का बच्चा लिए थी, वह श्यामू की माँ।”

“ओह”—कह कर मैं अपनी कोठरी की ओर चल पड़ा। वह भी मेरे साथ-साथ चलने लगा। मैंने देखा वह कुछ सोच रहा था, जैसे उसके सामने कोई समस्या आ गई हो। धीरे से उसने प्रश्न किया—“आपको यहाँ आए कितने दिन हो गये ?”

ओ मत्स्यगंधा !

“यही कोई आठ-दस दिन ।” मैंने जवाब दिया ।

“आठ-दस दिन ?” उसके मुख से आश्चर्य-भरे ये शब्द निकल पड़े ।

“क्यों ? क्या बात है ?”---मैंने उसकी ओर देखते हुए पूछा ।

“यों ही । बात यह है कि इस महल्ले का ऐसा कोई भी आदमी नहीं है, जिसे मैं दिन में कम-से-कम दो बार नहीं देख लेता । मगर आपको आठ-दस दिन आए हो गए और आज आपको पहले-पहल देख रहा हूँ ।”---उसने हँसते हुए कहा ।

तब तक मेरी कोठरी आ गई थी । वह चला गया । दूसरे दिन जब हम मिले तो मुझे मालूम हुआ कि उसका नाम रशीद है । वह रोज मेरे पास शाम को आता और रात होते-होते चला जाता । इसी बीच वह इस महल्ले की बातें किया करता । रोज किसी-न-किसी की चर्चा छेड़ बैठता और स्वयं उसका सारा इतिहास कहने लगता । रशीद के साथ बातचीत में ही मुझे इस महल्ले के एक-एक व्यक्ति की जानकारी हो गई—उनका सुख-दुख सब कुछ मालूम हो गया ।

एक दिन मैंने रशीद से पूछा—“रशीद, तुम आखिर करते क्या हो ? तुम्हारी रोटी का जरिया क्या है ?”-- वह कुछ देर तक चुप रहा । फिर बिना कुछ उत्तर दिए उठ कर चल दिया । कई दिनों तक उससे मुलाकात नहीं हुई ।

चार-पाँच दिनों के बाद, एक दिन वह सुबह के समय दौड़ता हुआ मेरे कमरे में आ खड़ा हुआ । उसके चेहरे से प्रकट हो रहा था कि कोई विशेष बात हो गई है । मैंने उसे गौर से देखते हुए पूछा—“क्या बात है रशीद ?”

“कुछ नहीं । कोई खास बात नहीं । रजिया मर गई ।” बड़े सहज स्वर में रशीद ने उत्तर दिया ।

“रजिया मर गई ? कैसे ? क्या हो गया था उसे ?” मैं अपनी जिज्ञासा को न दबा सका ।

“हो क्या गया था ?”—रशीद ने उसी सहज स्वर में कहना आरंभ किया—“उसे बच्चा होने वाला था । शादी-ब्याह तो उसने किया नहीं था । महल्लेवालों के डर से दवा खा ली । लेकिन गर्भ जो गिरा, वह भी खतम हो गई; लोगों का कहना है, हकीम साहब का गर्भ था । मगर उनको कौन टोके ? हम गरीब हैं न बाबूजी ।”

मुझे कुछ कहते न बना । कुछ देर तक सोचता रहा और रशीद को देखता रहा । उसकी आँखें भर आयी थीं और उसका चेहरा गुस्से से लाल हो आया था । तभी मुझे कुछ याद आया और मैंने रशीद की ओर देखते हुए कहा—“रशीद तुम तो कहते थे रजिया का एक भाई भी है, अख्तर । वह कहाँ है ?”

“जेल में ।”

“जेल में ?”

“हाँ ।”

“क्यों ?”

“पाकिटमारी में पकड़ा गया था ।”

इसके पहले कि मैं रशीद से और कुछ पूछूँ, वह उठ कर चला गया ।

शाम को जब दफ्तर से लौट कर आया तो मैंने देखा कि रशीद मेरी कोठरी के दरवाजे से लग कर बैठा है । मुझे देखते ही वह उठ खड़ा हुआ । मैंने दरवाजा खोल कर अन्दर प्रवेश करते हुए पूछा—“रजिया को दफना दिया गया ?”

“हाँ ।”—उसने एक भारी-सा उत्तर दिया ।

उसके बाद काफी देर तक कमरे में खामोशी रही । रशीद आज बहुत उदास था । लगता था कि उसके जीवन का कोई क्षीशा धीरे-धीरे चिनकता

ओ मत्स्यगंधा !

जा रहा है । काफी देर तक चुप रहने के बाद धीरे से मैंने अपना पुराना प्रश्न दुहराया—“रशीद, एक बात बताओगे ? उस दिन तुमने टाल दिया था । तुम क्या करते हो ? तुम्हारी रोटी कैसे चलती है ?”

रशीद ने कोई जवाब नहीं दिया । चुपचाप आँखें मुकाए जमीन को देखता रहा । न जाने क्या-क्या सोचता रहा ! फिर एकाएक झटके से उठ खड़ा हुआ और कमरे से बाहर चला गया । लेकिन तुरन्त ही लौट आया । किवाड़ को दोनों हाथों से पकड़े हुए वह चौखट पर खड़ा होकर बोला—“बाबूजी, मैं जिसे छिपाना चाहता था, देखता हूँ, अब उसे छिपा नहीं सकूँगा । मैं दलाली करता हूँ बाबूजी, रंडियों की दलाली । बड़े-बड़े मकान में रहनेवाली रंडियों की नहीं, सोनिया की दलाली करता हूँ, उसका गाहक जुटाता हूँ ।” और वह झटके से मुड़ा और गली पार कर गायब हो गया ।

आज पहले-पहल मुझे अपने व्यक्तित्व का ख्याल आया । रशीद के प्रति आज पहले-पहल मेरे मन में घृणा के भाव जगे । मेरा अन्तर रशीद के इस कर्म के प्रति सम्पूर्ण रूप से विद्रोह कर उठा । रशीद के प्रति मेरे मन में जो सहानुभूति थी, वह मिनटों में काफूर हो गई । मेरे मुँह से निकल पड़ा, कमीना कहीं का । कितना शरीफ मालूम पड़ता है देखने में, मगर कितना कुकर्मी है । पहले मालूम हो जाता तो कमरे में दाखिल ही नहीं होने देता ।

रात भर मुझे नींद नहीं आई । तरह-तरह की बातें मन में उठती रहीं । एक बार आँखें झपकी भी तो बड़ा भयानक सपना देखने लगा । मैंने देखा—मैं एक पीब के तालाब में गिर पड़ा हूँ और मैं लाख निकलने की चेष्टा करता हूँ, निकल नहीं पाता । मेरा दम घुटा जा रहा है । मैं भय से चीख उठा । मेरी नींद उचट गई । फिर मुझे नींद नहीं आई । रशीद, रजिया, सोनिया, अख्तर, हकीम साहब के बारे में सोचता रहा । सोचता रहा कि

मैं कहाँ आ गया हूँ, किस नरक में गिर पड़ा हूँ। मुझे यहाँ से निकल भागना चाहिए, निकल भागना चाहिए।

सुबह बिस्तर पर से उठा तो मेरा सारा शरीर झन-झन कर रहा था। दिन भर मन सुस्त रहा। किसी भी काम में जी नहीं लगा। शाम को दफ्तर से लौटते समय मैंने देखा, रशीद मेरी कोठरी के सामने गली में टहल रहा है। मैं उल्टे पाँव लौट पड़ा। रशीद ने मुझे देखा, एक बार पुकारा भी, मगर मैं उसकी पुकार अनसुनी कर आगे बढ़ गया। कनखियों से मैंने देखा—रशीद खड़ा-खड़ा मुझे देख रहा था। मैं भाग चला।

फिर इसके बाद बहुत दिनों तक रशीद से मेरी बातचीत नहीं हुई। एकाध बार सामना भी हुआ तो दोनों ही एक-दूसरे से कतरा गए।

दो महीने बाद की बात है। जाड़े की रात थी। मैं अपनी कोठरी में किवाड़ बन्द कर अपनी मृत पत्नी की बनाई लोई ओढ़े हुए उसकी बात सोच रहा था। इसी समय किवाड़ को किसी ने थपथपाया। मैंने आहट ली एवं भीतर ही से आवाज दी—“कौन है?”

“मैं। मैं हूँ, कालू।”—एक भारी-सी आवाज आई।

कालू? मेरी तो डर के मारे हालत ही खराब हो गई। उसके बारे में रशीद से सब कुछ मैं सुन चुका था। रशीद से यह भी मालूम हुआ था कि वह अभी जेल में है। तो क्या कालू जेल से छूट कर आ गया?

मैंने थोड़ा साहस किया—“क्या काम है?”

“दरवाजा खोलिए, मैं बताये देता हूँ।”—कालू ने बाहर से कहा।

मेरा सारा शरीर भय से थर-थर काँपने लगा। उठ कर दरवाजे तक आया। दरवाजा खोलने के पहले कुछ साहस बाँध कर मैंने फिर कहा—“पहले काम बताओ तब दरवाजा खोलूँगा।”

कालू कुछ देर चुप रहा। शायद, कुछ सोचने लगा। तब आवाज आई—“मैं रशीद भैया का संदेशा लाया हूँ।”

ओ मत्स्यांधा !

रशीद...रशीद...रशीद...मुझे नहीं वास्ता है तुम्हारे रशीद से । रशीद आवाग है । बदमाश है । कुत्ता है । मैं कुत्तों से नफरत करता हूँ । मैं गंदगी से दूर रहना चाहता हूँ । मैं चिल्ला कर कहना ही चाहता था कि जाओ, मैं नहीं सुनूँगा रशीद का संदेशा, मुझे रशीद से कोई मतलब नहीं,...कि, जाने किस शक्ति ने मेरे हाथों को बढ़ा कर दरवाजा खोल दिया ।

कालू अन्दर आ गया । कमरे में काफी अँधेरा था । इसलिए मैं कालू को ठीक से देख नहीं पा रहा था । रात अँधेरी थी । चाँद की रोशनी भी होती, तो शायद काम चल जाता । फिर भी अँधेरे में ही मैंने देखा कि कमरे में आने वाला व्यक्ति काफी लम्बा-चौड़ा व्यक्तित्व रखता है । भय से सारा शरीर थर-थर काँपने लगा । मगर मैं कुछ बोला नहीं । चुप चारपाई पर बैठ गया । कालू बोला—“मैं रशीद दादा के पास से आ रहा हूँ ।”

किसी तरह हिम्मत बाँध कर मैंने पूछा—“क्यों ? क्या बात है ?”

“रशीद दादा की तबीयत बहुत खराब है ।”—अँधेरे में ही मुझे पद लेने की चेष्टा करते हुए वह बोला—“उन्हें बहुत बुखार है । न जाने क्यों वे, आपसे मिलना चाहते हैं ।”

“अभी ?”...मैंने काँपते स्वर में पूछा ।

“हाँ ।”

रशीद के प्रति इतनी सारी धृष्ट मन में समेटे रहने पर भी उससे नहीं मिलने की आत्मा ने गवाही नहीं दी ।

“चलो ।”—चारपाई पर से उठते हुए मैंने कहा ।

मैंने कमरे में ताला लगा दिया । दोनों चुपचाप चलने लगे । गली के मोड़ पर आकर मैंने कालू से पूछा—“रशीद कहाँ रहता है ?”

“उनके रहने का कौन ठिकाना ? कभी कहीं रह गए, कभी कहीं । आज सोनिया के यहाँ बीमार पड़े हैं ।”—कालू ने बायीं ओर मुड़ कर मुझे भी मुड़ने का इशारा करते हुए कहा ।

सोनिया !...मेरे पाँव ठमक गए । नहीं, वहाँ नहीं जाना होगा । वह पाप का घर है । सोनिया नारीत्व का बाजार लगाती है । रशीद पाप का दलाल है । मर जाने दो साले कुत्ते को । नहीं, वहाँ नहीं जाना होगा ।

तभी मुझे रुका देख कालू ने टोका—“चलिए, जरा जल्दी चलिए बाबूजी ! वहाँ रशीद दादा को अकेले छोड़ आया हूँ ।”

यह कालू कह रहा है । आवारा, लफंगा, कालू कह रहा है । जो बारह साल कैद की सजा कटा चुका है, जिसके लिए कोई नियम, कोई कानून अपना महत्व नहीं रखता, जिसे सभ्यता हिकारत की नजर से देखती है, वही कालू कह रहा है—चलिए वहाँ रशीद दादा को अकेले छोड़ कर आया हूँ । किसी अज्ञात प्रेरणा से मेरे पाँव बढ़ गए ।

चलते-चलते मैंने कालू से पूछा—“क्यों जी, रशीद वहाँ अकेला है ? सोनिया कहाँ गई ?”

“सोनिया न जाने कहाँ भाग गई—अचानक किसी को कुछ मालूम नहीं ।”—कालू ने जवाब दिया ।

सोनिया के घर पर पहुँच कर मैंने देखा कि रशीद चारपाई पर आँखें मूँदे पड़ा है । कमरे में एक मिट्टी का दिया जल रहा है । काँपती हुई लौ की काँपती रोशनी में उसकी आँखों की नमी काँप-काँप उठती है ।

मैंने आगे बढ़कर रशीद की चारपाई पर बैठते हुए उसके माथे पर हाथ रख दिए ।

“आ गए बाबूजी ?”—रशीद के गले से एक भरपूर हुई आवाज निकली ।

ओ मत्स्यगंधा !

किसी ने जैसे मेरी इंसानियत को जोर से एक तमाचा जड़ दिया । मेरे भीतर का मनुष्य कराह उठा । मैं चुप ही रहा ।

रशीद ने अपनी आँखें बन्द कर लीं । मैं कालू से बातें करने लगा ।
—रशीद कब बीमार पड़ा ? डाक्टर को दिखाया है ? कौन-सी बीमारी है ? दवा दी जा रही है ? बुखार कब से ज्यादा बढ़ गया ?

कुछ देर बाद रशीद के होठों से एक काँपता हुआ स्वर निकला—
“बाबूजी !”

मैंने उसके माथे पर अपने हाथ रख दिए । मैं कुछ भी बोल न पाया । चुपचाप उसकी आँखों को देखता रहा, जिनसे दर्द का पहाड़ पसीज-पसीज कर बह रहा था ।

“मैं आपसे एक बात कहना चाहता हूँ, बाबूजी !”—रशीद ने करवट बदलते हुए कहा—“मैंने मन को बहुत समझाया, मगर वह माना नहीं । उस दिन मैंने आपकी आँखों में नफरत का धुँआ देखा था । मैं आप से कुछ कहने के लिए आपके पास गया भी था, लेकिन आप मुझसे नहीं मिले, चले गए । बाबूजी, आप मुझसे चाहे जितनी नफरत कीजिए, मैं आपको मना नहीं करूँगा, लेकिन बाबूजी...मैंने इंसान बनने की कम कोशिश नहीं की, लेकिन चारों ओर की चोट सहते-सहते मेरी वह डोर ही टूट गई जिसके सहारे मैं इंसान बनना चाहता था । बाबूजी, आपके भीतर अभी वह इंसान जिन्दा है, जिसे बदबू से नफरत है, आपकी वह डोर बची हुई है जिसके सहारे आप बढ़ते जा रहे हैं । मेरे भीतर का वह इंसान मर चुका है, वह डोर टूट चुकी है । मैं अब अच्छे-बुरे का खयाल नहीं करता और वैसा करने वाले को पागल समझता हूँ ।”

रशीद एकदम खामोश हो गया । कमरे में एक अजीब चुप्पी छा गई । मेरी इच्छा होती थी कि रशीद से कहूँ कि रशीद, मुझे माफ कर दो । मैं

तुमसे नफरत नहीं करता था । मेरे कपड़े तुमसे नफरत करते थे । मेरे मन के भीतर का समाज तुमसे नफरत करता था । लेकिन मैं कुछ भी कह नहीं पा रहा था । चुपचाप दीपक की मंद रोशनी में रशीद के चेहरे को देखता रहा—उसकी गीली आँखें और उसका क्रोध से तमतमाया चेहरा ।

मैं वहाँ और अधिक देर तक नहीं बैठ सका । कल फिर आने का वादा कर चल पड़ा । रास्ते के अँधेरे में रशीद की बातें रह-रह कर गूँज उठतीं । उसकी गीली आँखें और उसका क्रोध से तमतमाया चेहरा मेरी आँखों में नाच उठता । यह कैसा क्रोध है जो आँखों को गीली, चेहरे को लाल और जबान को खामोश बना देता है ?

कमरे में पहुँचते ही मेरे मन में अचानक बिजली-सी कौंध गई । मेरा सारा जीवन उस क्षणिक प्रकाश में दीख गया । इस समय मेरे मन में रशीद के प्रति तनिक भी नफरत नहीं थी, इसलिए कि अपने आनेवाले कल की छाया मैं रशीद की गीली आँखों, खामोश जबान और क्रोध से तमतमाए चेहरे में देख चुका था ।

मछुन्दर का मोह

[.....दो साल बाद जब सुधांशुजी इंगलैंड से वापस आये तो उनके पिता रायसाहब मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव के आश्चर्य का ठिकाना न था । सुधांशुजी धोती के हिमायती हो गये थे और कोट की जगह सिल्कन कुर्ता पहनने लगे थे । सुधांशुजी ने आते ही अपने पिता को दो नई और अर्जाबोगरीब सूचनाएँ दीं—एक तो यह कि वे कहीं नौकरी नहीं करेंगे और दूसरी यह कि वे बाकी उम्र देश की सेवा में गुजार देंगे ।.. ...]

रायसाहब मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव के सुपुत्र सुधांशुजी जब इंगलैंड से अँगरेजी साहित्य में डॉक्टर की उपाधि लेकर लौटे तो उनमें एक ही साथ अनेक परिवर्तन दीख पड़े, परन्तु सबसे अधिक परिवर्तन दीख पड़े उनके सिद्धान्तों में ।

सुधांशुजी जब पटना विश्वविद्यालय के छात्र थे और कदमकुआँ के अपने विशाल दोमंजिले मकान में रहते थे और रोज नयी “शेवरले” पर एम० ए० की पढ़ाई पूरी करने आते थे, उनका सबसे प्रमुख सिद्धान्त था कि उस आदमी से कभी दोस्ती या मेल-मुहब्बत न करनी चाहिए, जिसके कपड़े मैले हों, क्योंकि मैले कपड़े और इन्सानियत में जानी दुश्मनी है । इसी का एक पिछलग्गा सिद्धान्त यह भी था कि उस आदमी का व्यक्तित्व जो फुलपैट नहीं पहनता, कभी उस सीमा पर पहुँच ही नहीं सकता जिस सीमा पर महान् व्यक्तियों का व्यक्तित्व पहुँचा रहता है, और इसी से एक निष्कर्ष यह भी निकलता था कि गरीबी कोई अच्छी चीज नहीं है । सुधांशुजी अधिक बातें करना पसन्द नहीं करते थे और अधिकतर वे बातों के लिए

ओ मत्स्यगंधा !

हल्की मुस्कानों की भाषा इस्तेमाल किया करते थे। उनके मित्रों में नवाब हैदरअली के बेटे महमूद अली, जमींदार रामचरण के इकलौते बेटे दयाचरण और दवाओं की सबसे बड़ी दूकान के मालिक के लड़के गणपति थे। इन मित्रों के विचार आपस में इतने मिलते-जुलते थे कि अक्सर चारों साथ तो दीख पड़ जाते, मगर जब भी दीख पड़ते एक अछेद्य मौन के साथ; हाँ, हल्की मुस्कानों की महफिल हमेशा साथ लगी रहती।

सुधांशुजी ने एम० ए० पास कर सीधे इंग्लैण्ड का रास्ता लिया और महमूद साहब पाकिस्तान चले गये। दयाचरण ने शादी कर ली और साल भर में एक बच्चा पैदा करने के बाद जमींदारी का काम खुद सँभालने लगे, मगर गणपति साहब जरा ज्यादा प्रगतिशील थे, इसलिए चीनी भाषा और साहित्य का अध्ययन करने के लिए शांतिनिकेतन में भर्ती हो गये।

दो साल बाद जब सुधांशुजी इंग्लैंड से वापस आये तो उनके पिता राय साहब मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव के आश्चर्य का ठिकाना न था—सुधांशुजी धोती के हिमायती हो गये थे और कोट की जगह सिल्कन कुर्ता पहनने लगे थे।

सुधांशुजी ने आते ही अपने पिता को दो नयी अजीबोगरीब सूचनाएँ दीं—एक तो यह कि वे कहीं नौकरी नहीं करेंगे और दूसरी यह कि वे बाकी उम्र देश की सेवा में गुजार देंगे। रायसाहब ने, जितना ठोंक सके, क्रिमत ठोंकी और चुप लगा गये। यों भीतर-ही भीतर उन्हें इस बात का पूरा यकीन हो गया कि इंग्लैंड में किसी ने उनके बेटे पर जादू कर दिया है। और फिर तो सुधांशुजी से छिपाकर, ओम्हाजी से पढ़ाकर पानी मँगवाया गया और रात को उनके सिरहाने रख दिया गया, कालीजी के मंदिर के पुजारी से जंतर बनवा दिया गया और उनके बिछावन में छिपा दिया गया, मगर सुधांशुजी पर कोई असर नहीं हुआ। वे अपने निश्चय रूप अटल रहे।

असल में बात यह थी कि सुधांशुजी जब इंगलैंड में थे तो वहाँ एक अफ्रिकावासी भारतीय लड़की से उनकी मुलाकात हुई और वह भी इस तरह कि पहले ही दाँव में बाजी हार गये। उस लड़की के हाथों में पहली ही मुलाकात में उन्होंने अपने दिल और दिमाग दोनों सौंप दिये। और फिर जब चलने लगे तो उस लड़की ने उनसे एक अजीब वादा करा लिया कि वे लौट कर अपनी बाकी जिन्दगी अपने देश की सेवा में गुजार देंगे क्योंकि वह भी ऐसा ही करेगी और इसी के द्वारा वे एक-दूसरे की याद की जोत दिल में जलाये रहेंगे। सुधांशुजी दिल हार ही चुके थे, वचन भी हार गये और घर लौट कर नहीं चाहने पर भी उन्हें देश-सेवा का काम अपनाना पड़ा।

मगर जब काम शुरू किया तो उनके सामने एक समस्या आ खड़ी हुई—कौन-सा काम किया जाए और कैसे किया जाए ? किस हैसियत से किया जाए ? और किस लक्ष्य और सिद्धान्त को सामने रख कर किया जाए ? मगर इसके पहले कि यह समस्या विकराल रूप धारण कर ले, उनके कतिपय नये मित्रों ने उन्हें इस संकट से उबार लिया। काफी विचार-विमर्श के बाद यह तय पाया कि इन सारी समस्याओं को एक ही प्रश्न में ढाला जा सकता है—किस पार्टी में प्रवेश किया जाए ?

सुधांशुजी ने तीन ही महीने में अखबारों के गहन अध्ययन से यह जान लिया था कि हिन्दुस्तान में जितने लोग हैं उतनी ही पार्टियाँ हैं। फिर भी उन्होंने जीवट का परिचय दिया और हिन्दुस्तान की प्रमुख राजनैतिक पार्टियों की एक विस्तृत मगर वैज्ञानिक सूची तैयार कर ली और मित्रों में वाद-विवाद करके इस बात का पक्का निश्चय कर लिया कि इनकी प्रमुखता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उन्होंने सभी पार्टियों के केन्द्रीय दफ्तरों से “मैनीफेस्टो” मँगा लिये और उनका अध्ययन शुरू कर दिया।

मगर जब अध्ययन शुरू किया तो निराशा के एक गहरे धुंध ने उन्हें

ओ मत्स्यगंधा !

घेर लिया । समझने की उन्होंने हजार कोशिशें कीं, मगर एक बात जो उनकी समझ में न आयी सो न आयी कि सिद्धान्त और आचरण में एक होने पर भी बहुत-सी पार्टियाँ विभिन्न नामों से क्यों काम करना चाहती हैं ? और तब उनके लिए आचरण और सिद्धान्त में एक, मगर नामों में भिन्न, अनेक पार्टियों से अपने लिये किसी एक को चुन लेना असम्भव हो गया ।

ऐसे समय लोगों को हमेशा मित्रों की अनिवार्य सहायता मिलती है । सुधांशुजी के मित्र इसके अपवाद नहीं थे । उन्होंने खुले दिल से सुधांशुजी की सहायता करना स्वीकार करने की कृपा की और चुटकियाँ बजाते उनकी मुश्किल आसान हो गई ।

मित्रों ने कहा—“भूदान-यज्ञ में कूद पड़िये ।”

मगर अभी एक और समस्या सुलझाने को रह गई थी । उन्होंने अपने मित्रों से पूछा—“भाई, भूदान-यज्ञ में कैसे कूद पड़ा जाए ?” मित्रों में से एक ने पूछा—“आपके पास कितनी जमीन है ?” सुधांशुजी ने निहायत इतमीनान से कहा—चालीस हजार बीघे ।”

“तो एक हजार बीघा भूदान-यज्ञ में हवन कर दीजिए ।” मित्रों ने सलाह दी—“और फिर देखते-देखते नेता बन जाइये ।”

सुधांशुजी को उनकी यह सलाह जँच गयी । उन्होंने मित्रों को सुभाव और सहायता के लिए कोटिशः धन्यवाद दिये और देश सेवा का कार्यक्रम तैयार करने लगे ।

रायसाहब ने जब सुधांशुजी के इस नये कार्य-क्रम के बारे में जाना तो होश गवाँ बैठे । उस जमीन को, जिसको उनके बाप-दादों ने इंच-इंच कर बढ़ाया था, उन्हीं का लड़का जोश में आकर, बिना समझे-बूझे गवाँ देना चाहता है । उन्होंने एक दिन आधी रात को सुधांशुजी को बुला कर

समझाया—“देखो, मेरा क्या है ? चार दिनों का मेहमान हूँ । आज हूँ, कल आँखें मूँद लूँगा । मेरा जो कुछ है, वह सब तुम्हारा ही है । मैंने अपनी अभिलाषाओं और शौकों का गला घोट कर उन्हें तुम्हारे लिए जुगाया है । तुम उन्हें रखो या लुटा दो —कोई तुम्हें कुछ कहने न जायेगा । मगर तुम्हीं सोचकर देखो, हजार बीघा बहुत ज्यादा होता है ।”

सुधांशुजी इंगलैंड से पढ़ कर आये थे, मजाक नहीं था । उन्होंने रायसाहब को ऐसा समझाया कि उनकी आँखें खुल गयीं । कहा—“हमारे पास चालीस हजार बीघा जमीन है । हम जिनके बीच रहते हैं उनके पास एक बीघा जमीन भी नहीं है । आज की दुनियाँ क्रांति और असंतोष की दुनिया है । हजारों पार्टियाँ हैं, जो अवसर से लाभ उठा कर असंतोष को भड़काती रहती हैं । जमाना आज बेघरबार वालों के साथ है । इसलिए समझदारी इसी बात में है कि असंतोष की आग को भड़काने का मौका ही नहीं दिया जाए । आप हजार बीघा देते हैं, उन्तालीस हजार बीघा बचा लेते हैं ।”

रायसाहब को अपने इस सुयोग्य बेटे की समझदारी पर आज पहले-पहल एकाएक यकीन हो आया । उनको लगा कि अब तक वे अपने बेटे के बारे में जो कुछ सोचते रहे हैं, गलत था । उन्होंने सुधांशुजी को उनकी समझदारी पर कोटिशः आशीर्वाद दिये और सुधांशुजी ने सिर पर पिता के आशीर्वाद धारण कर काम शुरू कर दिया ।

और दूसरे दिन उन्होंने दो फर्लांग जमीन पैदल चलकर “भूदान-यज्ञ” के एक विख्यात पुरोहित से मुलाकात की और एक साथ हजार बीघा भूदान यज्ञ में देने और उसके लिए कार्य करने की अपनी इच्छा जाहिर की । पुरोहितजी, उनकी जितनी तारीफ कर सकते थे, की और उनके भूदान-यज्ञ का पौरोहित्य करने के लिए एक निश्चित क्षेत्र ढूँढ़ निकालने की प्रतिज्ञा की ।

ओ मत्स्यगंधा !

तीसरे दिन अखबारों में बड़े-बड़े अक्षरों में यह समाचार छप गया—
“राज्य के सबसे अधिक जमीन वाले रायसाहब मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव के सुपुत्र डा० सुधांशु ने भूदान-यज्ञ में हजारों बीघा जमीन दी है और खुद भूदान-यज्ञ के लिए काम करने की इच्छा प्रकट की है।”

फिर तो रायसाहब और सुधांशुजी के पास बधाई के पत्रों और तारों का अम्बार लग गया और अखबारों में उनके ब्लॉक और “इण्टरव्यू” प्रकाशित होने लगे और थोड़े ही दिनों में सुधांशुजी को इस बात का पक्का यकीन हो गया कि उनकी प्रसिद्धि राज्य की सीमा को तोड़ने वाली है।

मगर अभी भी उनकी इच्छा पूरी नहीं हो सकी। उन्होंने एक बार फिर भूदान-यज्ञ के उसी विख्यात पुरोहित से मुलाकात की और उनकी सेवा में अपनी इच्छा निवेदित की। पुरोहित जी ने उन्हें गले से लगाते हुए उनकी अभिलाषा पूर्ण करने का पूरा आश्वासन दिया और सप्ताह बीतते-बीतते दरियापुर गाँव में उनका कार्य-क्षेत्र निश्चित कर दिया गया। सुधांशुजी को जब इसकी सूचना मिली तो उनके हर्ष की सीमा न रही। उन्होंने अपने मित्रों को दावत दी और परिचितों के यहाँ मिठाई भिजवाई। रायसाहब भी अपने पुत्र की इस सफलता पर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कालीजी के मंदिर के पुजारी को बुलाकर सालभर तक सुधांशुजी के नाम पर अखण्ड दीप जलाने की आज्ञा दी और सौ ब्राह्मणों की भोजन और वस्त्र के साथ-साथ पाँच-पाँच आने पैसे से सेवा की। मगर सुधांशु की माँ ने उनके प्रस्थान के तीन दिन पहले इस बात की जिद पकड़ ली कि जब तक उनकी शादी नहीं हो जाती, वे उन्हें कहीं भी आने-जाने नहीं देंगी और जो उनकी बात न माने वह उनका मरा हुआ मुख देखे। सुधांशुजी की सारी पढ़ाई-लिखाई माँ की इस जिद के सामने हवा हो गई। और रायसाहब तो जैसे खार खाये बैठे थे। उन्होंने माँ-बेटे को द्वन्द्व के लिए स्वतन्त्र

छोड़कर चुपके से रायबहादुर काञ्चीलाल श्रीवास्तव की इकलौती ग्रैजुएट श्यामा से सुधांशुजी की शादी की बात शुरू कर दी ।

आखिर हारकर सुधांशुजी उसी विख्यात पुरोहितजी के यहाँ गये और उनका आशीर्वाद पाकर शादी की स्वीकृति दे दी ।

तिलक में दस हजार बीघा जमीन लेकर एक रात सुधांशुजी मित्रों के साथ बरात सजाकर श्यामा को ब्याह लाये । श्यामा एक तो लखपति बाप की बेटी थी, दूसरे ग्रैजुएट । आते ही सुधांशुजी को पाठ पढ़ाना शुरू कर दिया । मगर सुधांशुजी समझदार आदमी थे, उन्होंने सुहागरात को ही अपने जीवन का भावी कार्यक्रम श्यामा को समझा दिया और यह भी बता दिया कि उन्हें इस निश्चय से विधाता भी नहीं डिगा सकता और श्यामा से इस बात की प्रार्थना की कि वह भी उनके इस महान् उद्देश्य की सफलता में सहयोग करे ।

श्यामा को सुधांशुजी की यह हरकत बुरी लगी—बहुत बुरी, इतनी बुरी कि उसे रोना आ गया । परन्तु इसी समय उसकी शिक्षा ने उसकी सहायता की । उसने सुधांशुजी की बात मान ली, किन्तु उनसे इस बात की प्रतिज्ञा करा ली कि वे जहाँ कहीं भी जायेंगे, उसे साथ लेते जायेंगे । रायसाहब ने श्यामा का यह निश्चय सुना तो पहले उसे समझाया, किन्तु श्यामा जब नहीं मानी तो उन्होंने सुधांशुजी को बुलाकर कहा—“देखो, बहू ऐसे तो जायगी नहीं । वहाँ उसके रहने-ठहरने का कोई अच्छा इंतजाम करना होगा । ऐसा करो कि जहाँ तुम्हें काम करना है वहाँ एक छोटा-सा मकान बनवा लो ।”

सुधांशुजी को पिता की इस बात पर गुस्सा आ गया कि तब तो देश-सेवा का काम हो चुका, मगर यह सोचकर कि हर बात का विरोध करना ठीक नहीं, चुप लगा गये । रायसाहब ने उसी दिन दरियापुर की यात्रा की

ओ मत्स्यगंधा !

और वहाँ जल्द-से-जल्द एक मिट्टी का मकान तैयार करने का इन्तजाम कर लौट आये ।

पूरे तीन दिनों के बाद, वहाँ से जब एक आदमी मकान तैयार हो जाने की सूचना लेकर आया, तब तक सुधांशुजी का जोश बहुत कुछ नरम पड़ गया था । फिर भी सुधांशुजी ने इस बात की किसी को भी खबर नहीं होने दी, यहाँ तक कि श्यामा को भी इस बात की खबर न हुई । फिर सुधांशुजी की जय-यात्रा की तैयारियाँ शुरू हो गयीं । श्यामा के लिए खादी की फाइन और कीमती साड़ियाँ खरीदी गयीं, चोली और जम्पर बनाये गये और सुधांशुजी के लिए खादी की धोतियाँ मँगवायी गयीं और रेशमी कुरते सिलवाये गये । और एक दिन शुभ घड़ी देखकर सुधांशुजी श्यामा के साथ अपनी नयी खरीदी “शेवरले” पर देश-सेवा के निमित्त दरियापुर गाँव को चल पड़े । रायसाहब भी साथ जाना चाहते थे, मगर तबीयत कुछ खराब हो जाने के कारण नहीं जा सके ।

राह में सुधांशुजी ने अपने सोए जोश को जगाने के प्रयत्न शुरू किये और अपने प्रथम भाषण की मन-ही-मन सामग्री जुटाने लगे । श्यामा उनकी जाँघों पर सिर रख कर सो गयी और आनेवाली मुसीबत का सपना देखने लगी ।

जब सुधांशुजी की नयी “शेवरले” ने दरियापुर की सीमा में प्रवेश किया तो गाँव से आ रही असह्य सड़ाँध से घबराकर श्यामा उठ बैठी और सुधांशुजी ने अपनी नाक पर रुमाल रख लिया ।

श्यामा ने नाक-भौं सिकोड़ते हुए कहा—“यह कहाँ जान मारने के लिए ले आये मुझे ?”

सुधांशुजी खुद ही सड़ाँध से मरे जा रहे थे, मगर फिर भी यथाशक्ति भाव को छिपाते हुए कहा —“यह भारत का गाँव है, श्यामा ! यहाँ देश

की आत्मा रहती है। हम इसी सड़ाँध से इस आत्मा की रक्षा करने तो यहाँ आये हैं।”

“खाक आये हैं।” श्यामा ने नाराजगी प्रकट करते हुए कहा और अपने कीमती नीले “लेडीज़ पर्स” से छोटा-सा सैंटेड फूलदार रुमाल निकालकर नाक पर रख लिया।

दो मिनट बाद सुधांशुजी की “शेवरले” एक छोटे से साफ-सुथरे मिट्टी के मकान के सामने आकर खड़ी हो गयी। सुधांशुजी ने उतरकर फाटक खोला और श्यामा साड़ी के फुरहरे को धूल से बचाने के लिए ऊपर उठाये हुए उतर गई। रायसाहब ने पहले ही से वहाँ तीन नौकर तैनात कर दिये थे और एक बढ़िया रसोइया पहले से भेज दिया था।

उतरते ही रसोइये ने चाय से दोनों का स्वागत किया और दोनों चाय पीकर आराम करने के लिए अपने कमरे में चले गये। आज श्यामा को सुधांशुजी पर बड़ा गुस्सा आ रहा था। उन्होंने उसकी जिन्दगी तल्व कर दी थी और उसके अरमानों का गला घोट दिया था। दोनों बातों-ही-बातों में उलझ गये।

श्यामा ने शिकायत के लहजे में कहा—“तुमसे मेरा ब्याह क्या हुआ, मेरी जिन्दगी तल्व हो गई।”

सुधांशुजी को गुस्सा आ गया। उन्होंने स्वर को कुछ ऊँचा करते हुए कहा—“और तुमसे ब्याह करके तो मेरी जिन्दगी स्वर्ग बन गई। तुमसे मैंने ब्याह क्या किया, अपने सपनों और आदर्शों के महल में आग लगा दी।”

श्यामा का स्वर भी कुछ तेज हो गया—“तो पछताते काहे को हो ? छोड़ दो मुझे। मर्दजात हो; दूसरा ब्याह कर लो।”

सुधांशुजी ने और भी ऊँचे स्वर में कहा—“जरूर कर लूँगा। तुम्हारे साथ तो एक पल भी गुजारना मेरे लिए मुश्किल है।”

ओ मत्स्यगंधा !

श्यामा और भी तेज आवाज में सुधांशुजी की इस बात का उत्तर देना ही चाहती थी कि बाहर बरामदे पर दरबान को खाँसी आ गई और दोनों का जोश ठंडा पड़ गया। और दोनों एक-दूसरे की प्रतिकूल दिशा में मुँह करके सो गये। मगर जब सुबह दोनों सोकर उठे तो एक समझौता हो गया था और रात की गर्मी का असर जाता रहा था।

दोपहर के खाने पर कुछ अन्य व्यक्तियों के साथ गाँव के एक बड़े कांग्रेसी सज्जन को भी आमंत्रित किया गया था। उन्होंने खाना खाते हुए सुधांशुजी को समझाया—“देखिये, यदि आपको यहाँ रहना है, यहाँ के लोगों की सेवा करनी है, तो अपने घेरे से आपको बाहर आना पड़ेगा। भेद-भाव भुलाकर लोगों से मिलना-जुलना होगा, दोस्ती-मुहब्बत करनी होगी। तभी आप सच्चे अर्थ में देश-सेवा कर सकेंगे।”

सुधांशुजी का देश-सेवा का जोश रात के भगड़े से जग गया था। बात जँच गई। उन्होंने तय किया कि शाम के भाषण के बाद वे यहाँ के लोगों से मिलें-जुलेंगे, उनके सुख-दुख से परिचय करेंगे।

शाम को लाउडस्पीकर पर बजते फिल्मी गीतों की छाया में सभा आयोजित हुई। आसपास के गाँवों के लोग भी लाउडस्पीकर की आवाज सुनकर जुट आये थे। लोग बड़ी उत्सुकता से अपने नये भावी नेता की प्रतीक्षा कर रहे थे। जब अँधेरा गहन हो गया और मञ्च के पास के बाँस के खंभों में सुधांशुजी के नौकरों ने आकर गैस की बत्ती लटका दी, तो लोगों ने देखा कि सुधांशुजी अपनी अप्सरा-सी सजी-धजी पत्नी के साथ चले आ रहे हैं।

सुधांशुजी आये और आकर मञ्च पर बैठ गये। थोड़ी देर तक सामने बैठे हुए लोगों को देखते रहे और फिर उठकर माइक के सामने जा खड़े हुए। फिल्मी गीत एक झटके के साथ बन्द हो गए और लोगों में शांति

छा गई। सुधांशुजी ने हाथ के इशारे से भाषण को आरम्भ करते हुए कहना शुरू किया—भाइयो, आप लोगों को मुझे अपने बीच पाकर थोड़ा आश्चर्य हो रहा होगा। शायद इसलिए कि आप मुझे अपने बीच का आदमी नहीं समझते। मगर अब जमाना बदल रहा है और देश के ऋषि-तुल्य नेताओं की कृपा से हमारे और आपके बीच की खाई पलटने लगी है।...मैं आप लोगों के बीच एक विशेष उद्देश्य लेकर आया हूँ। आज अपने देश में सबसे बड़ी समस्या भूमि की है। एक आदमी के पास हजारों बीघा भूमि है, और एक आदमी के पास एक धूर भूमि भी नहीं। किन्तु धन्यवाद दीजिए अपने ऋषितुल्य नेताओं को, जिन्होंने चुटकियाँ बजाते इस विकराल समस्या को हल कर दिया है। उनकी कृपा से अब जितने भूमिवाले लोग हैं, वे अपनी भूमि का एक छोटा-सा हिस्सा आपकी सेवा के लिए अलग कर देंगे और आपकी भूमि की समस्या हल हो जायेगी।

“किन्तु इसमें आपके सहयोग की भी आवश्यकता है। मैं आप लोगों से इसी बात की प्रार्थना करने आया हूँ। आपके पास भी जो भूमि है उसका एक छोटा-सा हिस्सा अपने भाइयों की सेवा के लिए दान कर दीजिए। इससे...”

कि इसी बीच सभा के बीच से एक आदमी उठ खड़ा हुआ और चिल्लाकर बोला—“मगर मेरे पास तो पैर रखने को भी भूमि नहीं है।”

एक दूसरा व्यक्ति भी उठ खड़ा हुआ और कहने लगा—“और मेरे पास इतनी ही जमीन है कि जिस साँभ मैं खाता हूँ उस साँभ मेरी बीवी उपास पड़ती है और जिस साँभ मेरी बीवी खाती है, उस साँभ मैं उपास पड़ता हूँ।”

सुधांशुजी इसके लिए तैयार नहीं थे। उनकी सिट्टी-पिट्टी गुम हो गयी। हाथ-पाँव से पसीना छूट चला। आवाज हकलाने लगी। मगर

ओ मत्स्यगंधा !

भगवान् की साक्षात् कृपा कहिये कि यकाएक स्थिति सुधर गयी । सुधांशुजी को बिजली की कौंध की तरह एक बात सूझ गई । उन्होंने अपने को सँभाल कर आहिस्ता-आहिस्ता कहना शुरू किया—“तो ऐसे भाई एक काम कर सकते हैं । वे भूदान-यज्ञ में हमारी सहायता कर सकते हैं ।”

मगर पहला व्यक्ति, जो अभी तक सभा में खड़ा था, चिल्लाकर बोल उठा—“मगर तब तक तो मेरे बीवी-बच्चे इस दुनिया से ही चल देंगे ।”

सुधांशुजी ने अब तक थोड़ा साहस संचय कर लिया था । इसलिए बिना ध्वराए हुए मुस्करा कर नेताओं के लहजे में कहा—“धीरज रखिये । हमारे पास कोई अलादीन का चिराग तो है नहीं कि चुटकी बजाते सारी समस्या हल हो जायगी ।”

सुधांशुजी की इस बात पर उनके आदमियों ने तालियाँ बजायी और दूसरों ने भी उनका अनुकरण किया । सुधांशुजी ने गैसबत्ती के प्रकाश में बैठी हुई जनता को गर्व से देखा और भाषण समाप्त कर बैठ गये । एक आदमी ने उन्हें धन्यवाद दिया और सभा समाप्त हो गयी ।

सुधांशुजी श्यामा के साथ मंच पर से उतरे और मुस्कराते हुए अपने मकान की ओर चल पड़े । मगर दो ही कदम गये होंगे कि एक मंगिन राह में हाथ जोड़े खड़ी मिली । उसकी गोद में एक नन्हा-सा बच्चा था, जिसके चेहरे और शरीर पर मैल चिकट गयी थी ।

सुधांशुजी ने साहस के साथ मुस्कराकर उसका स्वागत किया । श्यामा को उनकी यह हरकत बहुत बेजा लगी, मगर यह देखने के लिए कि जनाब और आगे क्या करते हैं, चुप लगा गयी । सुधांशुजी उससे बातें करने लगे । एकाएक उन्हें उस वृद्ध कांग्रेसी सज्जन की नसीहत याद आ गयी और नेता बनने के भोंक में उन्होंने उसकी गोद से बच्चे को लेकर चूम लिया और उससे खेलना शुरू कर दिया ।

मछन्दर का मोह

अब श्यामा के लिए सहना मुश्किल हो गया। उस गंदे बच्चे को मुधांशुजी को चूमते देख कर उसको उबकाई आने लगी। उसका चेहरा गुस्से से तमतमा आया और उसने किसी आंतरिक प्रेरणा के वशीभूत होकर उस बच्चे को एक झटके में उनकी गोद से छीन लिया और उसे जमीन पर पटकते हुए कहा—“तुम भी अजीब अहमक हो। देखते नहीं, यह बच्चा कितना गन्दा है और कितना बदबूदार।”

मुधांशुजी ने तो जोश में आकर उसे गोद में ले लिया था और चूमा था और खेलने लगे थे, मगर अब जो उस बच्चे की ओर देखा तो उसके मुँह पर चिकटे मैल को देख कर उनको इस कदर उबकाई आयी कि लगा आँत मुँह से बाहर निकलने को बेताब हो गयी।

उन्होंने एक भयानक गुस्से और नफरत से उसको देखते हुए जमीन पर थूकना शुरू किया और जेब से सैंटेड रेशमी रूमाल निकालकर उन होठों को बार-बार पोंछने लगे जिनसे उस मैले, गंदे, बदबूदार बच्चे के गालों का स्पर्श किया था। भंगिन गुमसुम, ठगी-सी मुधांशुजी के इस परिवर्तन को देख रही थी और छलछलायी आँखों से क्षमा की याचना किये जा रही थी। उसकी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था।

मुधांशुजी ने श्यामा का सहारा लेकर कदम आगे बढ़ाते हुए कहा—“उफ, हरामजादी का वह बच्चा कितना गन्दा है और कितना बदबूदार। जल्दी घर चलो, मुझे जोरों की उबकाई आ रही है।”

श्यामा ने उन्हें सहारा दिया और दोनों आगे बढ़ चले। पीछे से आ रहे मुधांशुजी के दरबान ने भंगिन को एक भद्दी-सी गाली देते हुए कहा—“कम्बख्त, तूने नेताजी का आकबत बिगाड़ दिया।.....अगर फिर तुझे देखा तो कच्चा चबा जाऊँगा। समझी?”

पति-परमेश्वर

[... यकायक अविनाश ने उठते हुए ममता से पूछा—“बत्ती गुल कर दूँ ?” ममता एकदम चौंक उठी ।.....किंतु, उसने कुछ कहा नहीं, केवल मन-ही-मन भगवान् को पुकारा और अपने स्रष्टा पति-परमेश्वर की ओर एक निरीह दृष्टि फेंक कर अधजगे शिशु से खेलने लगी । अविनाश ने वह दृष्टि पहचानी । कुछ क्षण बैठे रहे, मगर फिर उठे और बत्ती गुल कर दी ।...]

जो सड़क सीधी लॉन की ओर चली जाती है, उसी सड़क पर राय-बहादुर का शानदार बँगला है। रायबहादुर अब इस दुनिया में नहीं हैं, लेकिन उनका बँगला बरकरार है। इसमें अब रायबहादुर की इकलौती ममता रहती है, जिसके पति अविनाश उसी मकान में रहकर व्यापार करते हैं। ममता के पति के विचार यदि काँग्रेसियों से मिलते हैं, तो कार्य हिन्दू-महासभाइयों से; उनकी दिमागी सहानुभूति यदि साम्यवादी लोगों के साथ रहती है, तो दिल पूँजीपतियों के साथ। और अक्सर होता यह है कि विचार और कार्य, दिल और दिमाग आपस में टकराते हैं, मगर हर हालत में कार्य विचारों का विरोध कर जाता है और दिल दिमाग से जीत जाता है। अविनाश पढ़े-लिखे आदमी हैं। वैसे वे दिल पर हाथ रख कर पूरे इतमीनान से कहते हैं कि उन्होंने पढ़ने-लिखने की कभी कोई कोशिश नहीं की, मगर पढ़-लिख गए। स्कूल या कालेज में हरेक साल वे रुक-रुक कर आगे बढ़े हैं और उनका कहना है कि इसमें उनकी जिन्दगी का एक बहुत बड़ा और कीमती हिस्सा बेकार बीत गया। बाप लखपट्टी थे और दस्तखत करना जानते

ओ मत्स्यगंधा !

थे, मगर हौसला काफी ऊँचा था। और भगवान की कृपा कहिए, उनका यह हौसला एक दिन पूरा हो गया—आविनाश ने एम० ए० कर लिया।

ममता को एक अमीर बाप की बेटी होने के बावजूद पढ़ने-लिखने का बड़ा शौक था। मगर दादा जरा ज्यादा दकियानूस थे। सयानी लड़की को कॉलेज भेजना उन्हें दिल से नापसन्द था। औरत परदे की चीज है, वह परदे में रहे, तभी उसकी इज्जत है। ममता के बाप अभी एकदम नई रोशनी के नहीं थे, इसलिए बाप का लिहाज करते थे। ममता को कैद कर दिया। ममता ने कहा-सुना, तो समझा दिया—“पति के घर जाकर जो जी में आए, करना। वहाँ तुम्हें पूरी अजादी होगी। और फिर कॉलेज में पढ़कर क्या करोगी ! डिप्टी बनोगी क्या !”

ममता ने भी मन को समझा दिया। ठीक है, पति के घर जाकर वह जरूर पढ़ाई शुरू कर देगी, मगर जब शादी हुई, तो मन की मन ही में रह गई। आविनाश ने साफ कह दिया—“देखो, इस पढ़ाई-लिखाई में मेरा विश्वास नहीं है। मैं पढ़े-लिखे व्यक्तियों को हमेशा संदेह की दृष्टि से देखता हूँ। और कॉलेज में पढ़ने वाली लड़कियाँ तो...राम-राम !”

ममता मन मसोस कर रह गई। आविनाश का रुख पहचानने में उसे देर न लगी। उसने अपनी अभिलाषा का गला घोट दिया। मगर फिर भी वह मरी नहीं। ममता की पढ़ने-लिखने की आदत छूट न सकी ! और अब भी वह पढ़ोस की अपनी एक सहेली से किताबें माँग लाया करती है—सस्ते रोमांस के उपन्यास और कहानियाँ—और दिन-दिन भर अवकाश के क्षणों में, यानी जब आविनाश घर पर न हो, उन्हीं को पढ़ा करती है।

आविनाश को घर से दो ही बातों का वास्ता है—पेट का और यौन का। दिन को वे घर पर इसलिए समय निकालकर चले आते हैं कि वहाँ खाने को अच्छी और ताजी चीजें मिल जाया करती हैं और उन्हें अपनी सेहत का बड़ा खयाल रहता है और रात को ममता के शरीर से उनके शरीर

में गर्मी पैदा होती है, एक तृप्ति मिलती है। ममता का जी ललच कर रह जाता है कि वे उससे दो पल खुलकर हँस-बोल लिया करें। जब वे नहीं होते, तो अक्सर वह हजारों बातें सोचा करती है और मन-ही-मन उनके आने की आकुल प्रतीक्षा करती है। मगर जब वे आते हैं, तो वह एक शब्द भी बोल नहीं पाती। अविनाश को मतलब है केवल अपने काम से और जिस बात से उसका संबंध न हो, वह उनके लिए बेमानी है।

रात को अविनाश ठीक बारह बजे आते हैं। ममता बिना खाए-पिए उनकी प्रतीक्षा में बैठी रहती है। मगर वे उसके पास नहीं आते, सीधे बैठक में जा पहुँचते हैं और व्यापार के जरूरी कागजात देखना शुरू कर देते हैं। वहीं महरी खाना दे आती है। करीब दो बजे उन्हें फुर्सत मिलती है। ममता तब तक खा-पीकर अपने सोने के कमरे में जा चुकी होती है। जब वे आते हैं, तो ममता उनसे बहुत-कुछ कहना-सुनना चाहती है। कुछ कहती भी है, मगर एक छोटा-सा जवाब मिलता है—“बहुत थक गया हूँ। मुझे नींद आ रही है। बत्ती गुल कर दो।”

ममता इस वाक्य का अर्थ जानती है। वह बत्ती गुल कर देती है और उनके पास लेट कर उनकी प्रतीक्षा करने लगती है। उसे बचपन से इस बात की शिक्षा मिली है कि पति परमेश्वर है, उसका कभी भी किसी बात में विरोध नहीं करना चाहिए। ममता बचपन की इस शिक्षा का पालन करती है और भूलकर सपने में भी इसके खिलाफ विद्रोह नहीं करती।

आज बारह जुलाई है। आज ही के दिन ममता की शादी हुई थी—छः साल पहले। मगर आज उसके मन में कोई विशेष प्रसन्नता नहीं है, कोई विशेष उत्साह नहीं है। आज दिन-भर अविनाश बाहर ही रहे हैं, यहाँ तक कि दिन का खाना खाने भी नहीं आए। फिर भी ममता के मन में

ओ मत्स्यगंधा !

एक उत्साह है—ऐसा उत्साह, जिसकी वह कोई विवेचना नहीं कर पाती । और इसी उत्साह के बल उसने दिन-भर देहलीज पर खड़े-खड़े अविनाश की प्रतीक्षा की है । और उनके नहीं आने पर उसका जी आज रोया भी है ।

रात के कोई बारह बज रहे हैं । ममता अपनी खिड़की पर खड़ी-खड़ी सुनसान सड़क को निहार रही है और अपने जीवन से उसका मिलान कर रही है । सड़क पर अँधेरा नहीं है, मगर चेहरा दीख जाए, ऐसा उजाला भी नहीं है । रात पूनों की है, किन्तु बादल हैं, जो चाँदनी पर छाए हुए हैं । इसी समय ममता ने उस सूनी सड़क पर कुछ लड़खड़ाती चाल से चलते हुए एक सूटेड-बूटेड आदमी को देखकर, जो ठीक अविनाश-जैसा ही दीखता था, सोचा—सभी पुरुष शायद अपनी पत्नी से इतना ही सम्बन्ध रखते हैं । रात को दो बजे आते हैं, चिराग गुल हो जाता है और सुबह चले जाते हैं ।...और बस ।

बाहर बारामदे पर उसे परिचित पग-ध्वनि सुन पड़ी । उसने मुड़कर घड़ी पर एक नजर डाली—दो बजे थे । उसने बत्ती बुझा दी और जाकर चारपाई पर लेट रही । अविनाश ने कमरे में प्रवेश किया और अँधेरे में ही देखकर जान लिया कि ममता चारपाई पर पड़ी है और अभी सोई नहीं है । वे कुछ बोले नहीं, चुपचाप जाकर ममता की बगल में लेट रहे । कुछ क्षणों के बाद जैसे ममता को टटोलते हुए पूछा—“सो गई क्या ?”

“नहीं तो ।” —ममता के स्वर में खीझ थी, मगर उसने अपने-आपको तुरन्त सँभाल लिया—“अभी सो कैसे सकती हूँ ?”

“तुम बड़ी अच्छी हो ।” —अविनाश ने कहा और.....

सुबह जब ममता की नींद टूटी, तो अविनाश बिस्तर पर नहीं थे । आज उसे अपने शरीर में और दिनों से ज्यादा दर्द और थकावट मालूम हुई । वह उठकर भी नहीं उठी । बिस्तर पर पड़ी रही । जलपान करके

अविनाश किसी काम से ममता के कमरे में आए, तो उसे लेटी देख कर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। पास जाकर पूँछा—“तबीयत तो ठीक है न ?”

“हाँ।” ममता ने आँखें मूँदे हुए कहा—“मगर थोड़ी थकावट मालूम होती है।”

“ओह।” अविनाश ने जैसे बात को समझते हुए कहा—“ठीक हो जायगा।” और झट बाहर चले गये।

दिन भर ममता बिस्तर पर पड़ी रही। उठने को जी न हुआ। मगर रात को जब घड़ी ने दो बजने की सूचना दी, तो उठकर ऊपर छत पर चली गई। अविनाश ने कमरे में प्रवेश करके पाया कि ममता वहाँ नहीं है। उन्होंने महरी को बुलाकर पूछा—“तेरी मालकिन कहाँ हैं री ?”

महरी सब जानती-समझती थी। उसने हौले-हौले मुस्कराते हुए कहा—“नहीं जानती, शायद छतपर गई होगी।”

अविनाश धड़धड़ाते हुए छत पर चले गए। पूछा—“क्या बात है ? सोओगी नहीं ?”

ममता जानती है। सब जानती है। सब समझती है। उसने आहिस्ता से कहा—“आज ईश्वर के लिए मुझे छोड़ दो।”

“क्यों ?” अविनाश ने अजीब-सा प्रश्न किया। ममता उलझ गई। इस क्यों का वह क्या उत्तर दे ? वह जानती थी कि उसे छुटकारा मिलने का नहीं। फिर भी उसने बात को संभालते हुए प्रार्थना के स्वर में कहा—“यों ही। आज तबीयत गिरी-गिरी सी लगती है। यहीं बैठे रहने को जी चाहता है।”

“नहीं, चलो।” अविनाश ने पैशाची स्वर में कहा।

“कहती हूँ आज छोड़ दो न।” ममता ने बात को अधिक स्पष्ट करते हुए प्रार्थना की।

“नहीं, चलो।” अविनाश ने कहा और उसे गोद में उठाकर अपने

ओ मत्स्यगंधा !

कमरे में चले आए । ममता ने निराश होकर एक बार भगवान को पुकारा, द्रौपदी के संकट की याद दिलाई । मगर उनको आते न देखकर मन-ही-मन उन्हें एक भद्दी-सी गाली देकर आत्मसमर्पण कर दिया ।

एक दिन रात को कुछ जल्दी ही अपने कमरे में अविनाश को पाकर ममता ने थोड़ा साहस किया—“सुनते हो, मैं अब माँ बनने वाली हूँ ।”

“हूँ ।” अविनाश ने अनमना-सा उत्तर दिया और फिर खामोशी छा गई । अविनाश चुपचाप लेटे रहे । बिजली का बल्ब जलता रहा । कुछ देर बाद अविनाश सो गए । मगर ममता की आँखों में नींद कहाँ ? वह चुपचाप आँखें मूँदे उनकी प्रतीक्षा करती रही । अब वह खूब अच्छी तरह जान गई थी कि इस समस्या का कोई हल नहीं है । पति परमेश्वर है, उसका एकाधिपत्य है, वह मनमानी कर सकता है और करेगा । वह कुछ नहीं कह सकती, कोई विरोध नहीं कर सकती । वह तुच्छ है—निरी नारी, चरण-सेविका ।

अविनाश चुपचाप पड़े रहे । कोई तीन बजे उनकी नींद टूटी, तो देखा कि कमरे में बत्ती जल रही है और ममता अधजगी बगल में लेटी है । उन्होंने उठकर बैठते हुए पूछा—“बत्ती गुल कर दूँ ?”

“कर दो ।”—ममता ने कह दिया । अविनाश ने बत्ती गुल कर दी और फिर आकर ममता के पास लेट गए । मगर फिर भी नींद न आई । एक नन्हें-से जीव ने, जिसके अभी किसी आकार-प्रकार की वे कल्पना नहीं कर सकते थे, उन्हें आतंकित कर दिया था । कैसे होगा ? क्या होगा ? उन्होंने ममता को छूकर आहिस्ता से पूछा—“कितने दिन का है ?”

“कोई तीन महीने का है ।”

“तीन महीने का ।” एक दीर्घ साँस लेकर जैसे मन-ही-मन दिनों की गिनती करते हुए अविनाश ने कहा और सो गए । ममता रात भर जगी रही । वह परिणाम जानती थी । इसलिए आशंकित हो उठी थी । सुबह

जब अविनाश उठे, तो देखा कि ममता अब भी जाग रही थी। उन्होंने उठते हुए पूछा—“रात भर जगी रही क्या ?”

“हूँ। नींद नहीं आई।”

“देखो, अपनी सेहत का ख्याल रखा करो।” अविनाश ने कहा और जल्दी से उठकर बिना उसकी ओर देखे कमरे से बाहर चले गए।

उस रात फिर ममता रात-भर अविनाश का इंतजार करती रही। करीब दो बजे वे बाहर से आए, मगर बैठक में ही खाना मँगाकर खाया और वहीं कागजात देखते-देखते कोच पर सो गए। ममता को इधर उनकी अनुपस्थिति—निर्मम अनुपस्थिति—खलने लगी थी। मगर आज उनकी अनुपस्थिति ने उसे रुला दिया। वह खूब रोई। करीब तीन बजे उठकर उसने बत्ती गुत कर दी और बैठक में जा खड़ी हुई। वहाँ अविनाश बेफिक्र सोए हुए थे। उसने उन्हें धीरे से छूकर जगाते हुए कहा—“यहीं सो गए क्या ? चलो न।”

अविनाश ने कोच पर ही करवट बदलने का प्रयत्न करते हुए कहा—“नहीं, रहने दो। यहीं ठीक हूँ। तुम सो रहो।”

ममता का दिल भीग आया। बोली “वहाँ अकेले मुझे नींद आयेगी ?” “आ जायगी।” अँगड़ाई लेते हुए अविनाश ने कहा—“जाओ सो रहो। मुझे नींद आ रही है।”

ममता लौट जाने को मुड़ी, मगर रुक गई। एक बार अविनाश का शरीर छूकर कहा—“चलो न। यहाँ कितनी तकलीफ होती है।”

अविनाश ने भुँभुलाहट-भरे स्वर में कहा—“उफ, तंग क्यों करती हो ? मुझे यहाँ कोई तकलीफ नहीं है। तुम जाकर सो रहो।”

ममता लौट आई। आज उसे अकेले सोना अजीब-सा लग रहा था।

ओ मत्स्यगंधा !

उसका जी रह-रह कर रो उठता था । आँखें मनाए न मानती थीं । किन्तु वह उस पिंजरबद्ध पंछी की नाई चुपचाप पड़ी रही, जो पंख तो फड़फड़ा सकता था, तीलियों पर सिर तो पटक सकता था, मगर दरवाजा खोलकर बाहर नहीं जा सकता था । जाने कब उसे रोते-रोते नींद आ गई । सुबह जब नींद खुली, तो सामने की घड़ी में आठ बज रहे थे । वह झट-से उठ बैठी । जाकर एक बार आईने में अपनी सूरत देखी, बालों में कंधी की और तेज कदमों से चलकर बैठक में जा उपस्थित हुई ।

अविनाश तब जलपान कर रहे थे और जवान महरी वहाँ खड़ी-खड़ी मुस्करा रही थी । अविनाश उससे हँस-हँस कर बातें किए जा रहे थे । ममता ने अविनाश का यह अपरिचित रूप देखा तो ठिठक गई । यह अविनाश हैं, जो उसके हजार प्रश्नों का उत्तर नहीं देते । उसके जी में आया कि वह लौट जाए, मगर किसी अदृश्य शक्ति ने उसे खींच कर रोक लिया । यकायक अविनाश की नजर जब उस पर पड़ी, तो सकपका गये । महरी भी सहम गई । ममता और पास जाकर खड़ी हो गई । महरी ने अवसर देखा और खिसक गई । ममता के मन में हुआ कि आज वह फैसला कर ले कि यह सब क्या है ? इसके क्या मानी हैं ? मगर जाने क्या सोचकर गम खा गई । मुस्कराते हुए अविनाश से पूछा—“नाराज हो गए हो क्या ?”

अविनाश ने ममता की नजर से अपनी नजर बचाते हुए कहा—
“नहीं तो !”

“रात अपने कमरे में क्यों नहीं आए ?” ममता ने दिल के दर्द को छिपाते हुए पूछा ।

“यों ही । कागजात देखते-देखते नींद आ गई सो यहीं सो गया ।” अविनाश ने हाथ धोते हुए कहा । ममता ने फिर कुछ नहीं पूछा । चुपचाप खड़ी रही । अविनाश ने कपड़े बदले और बाहर चले गए । ममता दरवाजे

पर खड़ी-खड़ी उन्हें जाते देखती रही। वह सब बात समझती थी, समझ गई थी।

भीतर जाने पर महरी ने कहा—“साहब ने कहा है कि उनका बिस्तर बैठक में ही लगा दिया जाए।”

ममता ने कोई जवाब नहीं दिया। केवल महरी को एक बार भर-नजर देखा, जिसके बनाव-सिंंगार में आज आश्चर्यजनक परिवर्तन दीख पड़ता था और जो खड़ी-खड़ी उसे देखकर मुस्करा रही थी। ममता के मन में हुआ कि वह महरी के गालों पर तमाचे जड़कर उसे घर से निकाल दे, पर अपनी स्थिति की कल्पना कर वह चुपचाप बिना कोई उत्तर दिये अपने कमरे में चली गई।

ममता के लिए अब चलना-फिरना भी कठिन हो गया है। दिन-रात वह चारपाई पर पड़ी रहती है और अपने अतीत और भविष्य की बातें सोचा करती है। अविनाश ने उसके कमरे में जाना प्रायः बंद कर दिया है। हाँ, कभी-कभी भूले-भटके दो-चार दिनों में उसकी तबियत के बारे में पूछ जाते हैं। जब वे आते हैं, तो ममता मुस्कराकर उनके सभी प्रश्नों का उत्तर “हाँ” में दे देती है और जब चले जाते हैं, तो रो देती है।

एक दिन ममता का मन किसी से बातें करने को बड़ा विकल हो उठा। अविनाश जब उसकी तबियत के हालात पूछने आए, तो उसने उन्हें बड़े प्यार से कहा—“सुनो, दो क्षण रुकोगे नहीं? आज जाने क्यों मेरा मन किसी से बातें करने को बड़ा बेचैन हो उठा है। आज दुकान पर न जाओगे तो क्या होगा?”

अविनाश ने कमरे से बाहर जाते हुए बहुत ही रुखे स्वर में जवाब दिया—“नहीं, जाना तो होगा ही। बिना गए तो व्यापार का काम चलने

ओ मत्स्यगंधा !

को नहीं । और देखो, ज्यादा बातें न किया करो, सेहत पर बुरा असर होगा ।”

ममता का मन रो उठा । अविनाश चले गए । बैठक में महरी की बात पर उनके हँसने की आवाज उसके कानों में आई । वह तड़प उठी । जी-भर रोई और जब रोने से जी भर गया, तो पेट्टी से चिट्ठियों का पुराना बण्डल निकाला और उसमें रम गई । इस बण्डल में विवाह के प्रथम वर्ष में उसको लिखे गए अविनाश के कुछ पत्र थे; तीन-चार पत्र निर्मला के भी थे, जो कहीं दूर पंजाब में ब्याही गई थी और जिसके पत्रों में पति के प्यार का जिक्र था । और एक पत्र सतीश का था, जो उसे उसके ब्याह के पहले लिखा गया था । और पत्रों के उसी बण्डल में एक रेशमी रुमाल भी था, जिसमें होली का गुलाल लगा था । बण्डल खोलकर ममता ने वह रुमाल निकाला । उसे याद आया—शादी का पहला साल था । होली का दिन । ब्याह के बाद अविनाश पहले-पहल आये थे । रात को अविनाश ने हाथों में गुलाल लिए उसके कमरे में प्रवेश किया था । उसका सारा शरीर एक अजीब पुलक से रोमांचित हो आया था ! अविनाश ने आते ही उसका घूँघट उठाकर अपने हाथों का गुलाल उसके गालों पर मल दिया था । उस दिन अविनाश का स्पर्श उसे इतना अच्छा लगा था कि वह मदहोश-सी हो गई थी । कुछ क्षणों के उपरांत जब से एक रेशमी रुमाल निकाल कर उसका मुँह पोंछते हुए अविनाश ने कहा था—“ममता, सच पूछो तो आज ही की रात अपनी सुहागरात है ।” ममता ने कोई जवाब नहीं दिया था । और तब अविनाश ने उसके मौन की शिकायत की थी । ममता ने एक हल्की लजाई हँसी हँसते हुए कहा था—“यह रुमाल मुझे दे दीजिए । उसे मैं अपनी इस सुहागरात की निशानी के रूप में रखूँगी ।”

ममता बहुत देर तक वह रेशमी रुमाल हाथ में लिए बैठी रही । यकायक उसे लगा कि सब कुछ भूटा है । यह रुमाल भूटा है, उसका पत्नीत्व

भूठा है, उसकी पहली सुहागरात भूठी है। और इसीलिए इस रूमाल को बचाए रखना व्यर्थ है। वह उठी और ताक पर रखी दियासलाई उठा लाई और फिर एक झटके से उस रूमाल में आग लगा दी। जब तक रूमाल जलता रहा, वह उसे जलते हुए एकटक देखती रही और जब वह जल कर खाक हो गया, तो जोर से एक फूँक मारकर उड़ा दिया। वह उस रूमाल को किसी भी रूप में बरदास्त नहीं कर पाएगी। फिर धीरे-धीरे वह बंडल में से पत्रों को निकालकर पढ़ने लगी—अविनाश के मादक पत्र। आज इन पत्रों से उसे बेहद नफरत हो आई थी। उसने उन पत्रों को एक एक कर फाड़ना शुरू किया। एक पत्र निर्मला का था। लिखा था—“ममता, उन्हें मेरे बिना एक पल भी चैन नहीं आता। हमेशा छाया की तरह घेरे रहते हैं। कभी-कभी मैं सोचती हूँ कि यदि वह छाया कभी मुझ से अलग हो गई तो मैं कैसे जी सकूँगी।” ममता का मुख विकृत हो आया। छाया। भूत की छाया। पशु की छाया।... उसने उसे झटके से फाड़ डाला। मगर दूसरा पत्र भी निर्मला का था। निर्मला ने लिखा था—“आज की रात होली की रात है। मैं तुम्हें पत्र लिख रही हूँ, मगर आँखें दरवाजे पर लगी हैं। यह विवाह के बाद मेरी पहली होली की रात है। ममता, जी मैं आता है कि यदि भगवान् मेरे वश में होते, तो मैं उनसे कह देती कि देखिए, ऐसी व्यवस्था कर दीजिए कि आज की रात का कभी भोर ही न हो।” ममता को पत्र पढ़ते-पढ़ते लगा कि निर्मला उसके सामने खड़ी व्यंग्य कर रही है। विवाह के बाद की पहली होली की रात। वे हाथों में गुलाल लिए आएँगे। सारे शरीर में एक सिहरन दौड़ जायगी। तब उपहार में एक रेशमी रूमाल मिलेगा; जो कुछ दिनों के बाद उस वैवाहिक जीवन पर एक ज्वलंत व्यंग्य बनकर रह जाएगा।.....

ममता के हाथ की अँगुलियों में एक हरकत पैदा हुई, दियासलाई की एक काठी निकली और निर्मला का वह पत्र भस्म से जल उठा।

ओ मत्स्यगंधा !

धीरे-धीरे कमरे में पत्रों के टुकड़ों का ढेर सा लग गया। साँभ हो आई थी। अन्तिम पत्र बच रहा था। वह पत्र सतीश का था—उसके पड़ोसी बाल-बन्धु सतीश का। जाने अब वह कहाँ है ? यह पत्र सतीश ने ममता की शादी तय होने पर लिखा था। उसने सतीश के पत्र के प्रत्येक शब्द को रस ले-लेकर पढ़ना शुरू किया। लिखा था—“ममता, मैं नहीं जानता तुम इस पत्र को पाकर मुझे क्या समझोगी ? सम्भव है, तुम मुझे बहुत बुरा समझ बैठो। कई बार मैंने सोचा कि मन की बातें खुद तुमसे खुलकर कह दूँ, मगर चाह कर भी वैसा नहीं कर पाया। देखो ममता, हम दोनों साथ खेले-बढ़े हैं। हमने एक-दूसरे की मनोभावनाओं को पढ़ने-समझने की कोशिश की है। मगर मैं समझता हूँ कि जिस एक चीज को हम नहीं समझ सके हैं, वह है हम दोनों की एक-दूसरे की आवश्यकता। पहले मैंने कभी इस समस्या पर सोचा भी था। मगर आज माँ से सुनकर कि तुम्हारी शादी तय हो गई है, मुझे ऐसा लगा कि मेरे जिस्म का कोई बहुत प्यारा और कीमती टुकड़ा किसी ने काट लिया है। मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकता ममता, नहीं रह सकता। देखो यह पत्र मैं तुम्हें खुद दे सकता था, मगर नहीं दे सका। इसलिए इसे तुम्हारे बिस्तर पर रखकर चला जा रहा हूँ। यदि उचित और आवश्यक समझो, तो पत्र का उत्तर अवश्य देना। हाँ, इतना जान लो कि तुम्हारे अभाव में शायद सतीश पागल हो जायगा या मर जायगा।”

पत्र पढ़ते-पढ़ते ममता के चेहरे पर पसीने की बूँदें चमक आईं। वह क्रोध और घृणा की किसी अंतःप्रेरणा से चीख उठी—“पुरुष। वहशी।” और एक झटके में उसने उस पत्र के दो टुकड़े कर दिए, फिर चार, छह, आठ और फिर नन्हा-सा पत्र इतने छोटे-छोटे टुकड़ों में बिखर गया कि सहसा उसका अस्तित्व पाना भी असम्भव हो गया।

ममता पछाड़ खाकर बिस्तर पर गिर पड़ी। आँसुओं की धारा फूट

निकली। उसके जी में आया कि वह एक ऐसा जबर्दस्त घूँसा अपने पेट पर मारे कि यह अभाग नन्हा जीव बाहर आ जाय और फिर उसे भकभोर-भकभोर कर कहे कि “मुन रे नन्हें जीव, कहने को तो तू मेरा बेटा है, मगर असल में तू पुरुष है—वहशी, जानवर, हत्यारा।” मगर जाने किस आंतरिक प्रेरणा से यकायक उसकी बँधी हुई मुट्टियाँ शिथिल पड़ गई और उठा हुआ हाथ धीरे-धीरे बिस्तर पर लौट गया।

रात को करीब बारह बजे अविनाश बाहर से घूम-फिर कर आए। ममता ने मन की पूरी नफरत को उभार कर उनकी सुरत न देखने की कसम खाई। मगर जब दो घंटे बीत जाने पर भी वे हाल-चाल पूछने तक नहीं आए, तो वह भीतर-ही भीतर मर्मन्तक पीड़ा से कराह उठी।

आज ममता के पेट में बड़ा दर्द है। लगता है कोई भीतर प्रवेश कर उसके पेट को फाड़े डाल रहा है। किन्तु वह किसी भी तरह अपने इस दर्द की सूचना अविनाश को नहीं देना चाहती। वह अविनाश से अब नफरत करने लगी है। उसने मन को समझा दिया है कि उसका पति आदमी नहीं, जानवर है। उसका ममता से केवल इसी बात का सम्बन्ध है कि उससे उसकी यौन-क्षुधा शमित होती है। दिन-भर ममता पेट को दाबे बिस्तर पर पड़ी-पड़ी छटपटाती रही।

आज अविनाश सुबह से ही कहीं बाहर चले गए हैं। शाम को ममता का दर्द इतना असह्य हो गया कि ममता को लगा, वह अब और जीवित नहीं रहेगी। मगर तब भी उसने अपने होंठों से एक शब्द नहीं निकलने दिया। होठों को दाँत से दाबे वह अपनी कराह को हलक से नीचे ही पीती रही। मगर कुछ देर बाद उसे ऐसा लगा कि उसकी चेतना पर एक धुंध-सा छाता जा रहा है और वह होश गँवाए जा रही है। धीरे-धीरे उसपर दर्द का नशा चढ़ने लगा और वह उस नशे में चीख उठी।

अविनाश जब लौटे, तो महरी ने उन्हें इसकी सूचना दी। अविनाश

ओ मत्स्यगंधा !

ने ऊपर आकर ममता को देखा । वह दर्द से छुटपटा रही थी । अविनाश ने ममता को छूते हुए पूछा—“दर्द क्या बहुत ज्यादा है ?”

ममता ने कोई उत्तर नहीं दिया । केवल उसका एक हाथ उठा और उन्हें बाहर चले जाने का आदेश देते हुए गिर पड़ा । अविनाश के मन में ममता की पीड़ा से भय-सा मालूम हुआ । उन्हें लगा कि वे ही इसके जिम्मेदार हैं । मगर महरी ने समझा दिया—“घबराने की कोई बात नहीं है । यह दर्द औरतें केल लेती हैं । आप केवल कोई लेडी-डॉक्टर बुला लाइए । बाकी मैं देख लूँगी ।”

अविनाश ने आश्चर्य से कहा—“तुम ?”

महरी के होठों पर एक मुस्कान की रेखा दौड़ गई—“हाँ, आपकी कृपा से मैं भी तीन बार माँ बन चुकी हूँ ।”

अविनाश ने महरी की बात का कोई जवाब नहीं दिया । उठकर जूते पहने और कमरे से बाहर चले गए । जब वे लेडी-डॉक्टर को लेकर वापस आए, तो रात को नौ बज चुके थे । लेडी-डॉक्टर ने देखकर बताया कि अब बच्चा होने में देर नहीं है । यही शायद घंटे-भर प्रतीक्षा और करनी पड़े ।

ग्यारह बजे के करीब ममता को नवनीत के पुतले-सा एक पुत्र हुआ । अविनाश दरवाजे पर खड़े प्रतीक्षा कर रहे थे । महरी ने आकर उन्हें सूचना दी । अविनाश का हृदय उछल पड़ा । आज वे पिता बन गए हैं—एक-दम स्रष्टा, ब्रह्मा । रात-भर वे बरामदे पर ही चहलकदमी करते रहे । चाहकर भी ममता के पास जाने का साहस उनको नहीं हुआ । मगर सुबह जब ममता ने बुला भेजा, तो काँपते कदमों से उन्होंने ममता के कमरे में प्रवेश किया । ममता बिस्तर पर पड़ी थी, एकदम शिथिल । किंतु आज उसके चेहरे पर अविनाश को एक अजीब प्रकाश दीख पड़ा । बगल में एक नन्हा-सा जीव सोया हुआ था, जो कल तक इस संसार में नहीं था,

किंतु आज इस संसार में रो-रोकर अपने अस्तित्व की घोषणा कर रहा था। उन्होंने दौड़कर बच्चे को गोद में उठा लिया और कपोलों पर कई चुम्बन अंकित कर दिए। ममता स्नेहभीगी आँखों से अविनाश को निहारती रही। आज अविनाश उसे बहुत अच्छे लगे, बहुत दिनों के बाद।

अविनाश ने उसकी बगल में बच्चे को सुलाते हुए कहा—“ममता, मुझे क्षमा कर दो।” ममता का मन पसीज गया। आँखों-आँखों में मुस्कराती हुई बोली—“क्षमा। काहे की? मेरा तो सौभाग्य का दिन है। आज मैं माँ बन गई हूँ।”

अविनाश चुपचाप बैठे रहे। कुछ कहा नहीं। केवल ममता के अंग-प्रत्यंग को निहारते रहे। किंतु रात को ममता ने देखा, उनका बिस्तर फिर उसके कमरे में लग गया था। जरा झुककर अपने उस नन्हें शिशु को चूम लिया।

कोई दस दिन गुजर गए। ममता के होठों पर उसकी पुरानी हँसी लौट आई थी। वह धारा, जो किसी अवरोध के कारण अवरुद्ध हो गई थी, अवरोध के हटते ही पुनः चल पड़ी थी। रात को अविनाश उसके पास ही लेटे थे। ममता हर्ष में झुबी जा रही थी। वह आज अपने पति में एकदम लय हो जाना चाहती थी। कमरे में बिजली का नीला बल्ब जल रहा था और नन्हा शिशु जगकर उसे एकटक देख रहा था।

यकायक अविनाश ने उठते हुए ममता से पूछा—“बच्ची गुलकर दूँ?”

ममता एकदम चौंक उठी। उसको लगा कि जो धारा अवरोध के हटने से चल पड़ी थी, उसके बीच में किसी ने एक बहुत बड़ा पहाड़ उछाल कर फेंक दिया है और धारा फिर अवरुद्ध हो गई है, पानी धिरने लगा है। किंतु उसने कुछ कहा नहीं। केवल मज-ही-मन भगवान् को पुकारा और

ओ मत्स्यगंधा !

अपने स्रष्टा पति-परमेश्वर की ओर एक निरीह दृष्टि फेंककर अधजगे शिशु से खेलने लगी। अविनाश ने वह दृष्टि पहचानी। कुछ क्षण बैठे रहे, मगर फिर उठे और बत्ती गुल कर दी।

ममता कुछ कह नहीं सकी। चुपचाप मन-ही-मन भगवान् को सहायता के लिए पुकारते हुए और उनके न आने पर उन्हें मन-ही-मन भद्दी-सी गालियाँ देते हुए अपने स्रष्टा पति-परमेश्वर की प्रतीक्षा करने लगी।

अनीता

[... . शून्य भरा नहीं जा सकता, क्योंकि उसकी गहराई का पता नहीं मिलता... ..]

अनीता का मन दुख जाता है जब वह कभी अपने बारे में सोचती है ।
आखिर उसका जीवन भी क्या है, क्यों है ? बेकार । उसमें क्या है कि सुख
हो । एक पीड़ा अगाध सागर की तरह और बस ।

वह अपने बारे में नहीं सोचती । सोचकर क्या होगा ? जो है, उसे
पाल रही है, जानने की कोशिश किये बिना । मगर फिर भी कभी-कभी उसे
अपना खयाल आ ही जाता है । और तब वह सोच में डूब जाती है । बहुत
पीछे भाग जाती है कि वहाँ कोई रास्ता सूझ जाए । आज जो वह है, वह
बहुत पीछे का विकास है । मगर कोई रास्ता नहीं सूझता । और तब वह
अपने से ऊब जाती है । उसके जी में आता है कि आत्महत्या कर ले, कि
इस जिन्दगी में कहीं कुछ ऐसा नहीं है कि जिया जाए । मगर वह आत्म-
हत्या नहीं करती । केवल रो लेती है ।

उसके सामने महीप का पत्र है । सुन्दर अच्छरों में लिखा हुआ अफसाना
हो जैसे—“अनीता, तुम अपने को पहचानती क्यों नहीं ? क्यों अपने
से भागती हो ? ऐसे तो जिया नहीं जा सकता । यह ठीक है कि कभी-कभी

श्री मत्स्यगंधा !

अपने को पहचानने की प्रक्रिया में दर्द होता है। मगर उस दर्द से भागा तो नहीं जा सकता, क्योंकि जिसके आरम्भ में वह है, उसके अंत में भी वही है। इसलिए उस दर्द को पीना होगा कि वह अपनी पहचान का सबूत होगा। और उसके सहारे जिया जा सकता है।...

मैं नहीं जानता प्यार क्या होता है। तुमने एक दिन कहा था, वह कुछ नहीं होता। सम्भव है, वह कुछ नहीं हो। मगर चाहा जाए, तो वह एक जरिया हो सकता है—अपने को पहचानने का, दूसरों को समझने का।...बीते दिनों को स्मृति में बाँध कर भुलाया नहीं जा सकता। फिर तुम...

देखो अनीता, मैं तुम्हें अपना मानता हूँ। तुम इससे इन्कार कर सकती हो। व्यक्तित्व तुम्हारा है। मगर अपने को खो मत दो। सँजो कर रखो। किसी दिन समझोगी, तो मूल्य आँक सकोगी।.. ”

और इससे अनीता का मन दुख गया है। एक उलझन में पड़ गयी है। कैसा पागल है महीप और कितना भोला, निरीह। उसका मन भर आया है। पलकें भीग आयी हैं। वह अपने बारे में सोचने को बाध्य हो गयी है।...

मगर इससे क्या होगा ? बीती बातों को याद कर क्या होगा ?...तब वह कालेज में पढ़ती थी। यौवन के रंगीन सपनों में खोयी रहती थी। जीवन में केवल धाराएँ थीं, लहरें थीं...किनारा नहीं था। वह थी और बस वही थी। मगर एक दिन अपनी सहेली के जन्म-दिन के उत्सव में शामिल होकर वह बँध गयी...(किनारा)। उसे लगा कि अब दुनिया फिर से बनेगी। सृष्टि का नया क्रम आरम्भ होगा। और उसे लगा कि सृष्टि की भावी पीढ़ा की रक्तिम अनुभूति में वह लाज से मर जाएगी।...परन्तु वह सब कुछ नहीं हुआ। किनारा तोड़ दिया गया—धाराएँ...लहरें।

और तब से वह किनारे से भागती है, क्योंकि बन्धन के सुख के बाद मुक्ति की पीड़ा वह अब न सह पाएगी ।

वह शहर में लड़कियों के स्कूल में टीचर हो गयी है । अपने को उसने एकान्त अपना बना रखा है । उसमें वह जानबूझ कर कोई परिवर्तन नहीं लाना चाहती । काफ़ी सोचने के बाद उसने महीप के पत्र का जवाब लिखा—“महीप, क्यों बार-बार लिखते हो मुझे कि अपने को पहचानँ । ऐसा कुछ है क्या जिसे पहचानना आवश्यक है ? मैं नहीं जानती कि इससे तुम्हें क्या लाभ होगा ? मुझमें वे तत्व नहीं हैं महीप, कि तुम्हें सुख होगा । मैं अपने को तुम्हें दान नहीं दे सकती । आदान-प्रदान की तो संभावना ही नहीं है ।

मुझे वे दिन याद हैं, जब हम प्रथम बार मिले थे । तभी मैंने तुम्हें कहा था कि मैं सूख गई हूँ । अब जो हूँ, रेत हूँ । तुम्हारी सरसता भी मेरे सम्पर्क में सूख जायगी । हालाँकि तब तुम संकेत नहीं समझ पाए थे, क्योंकि विषय दूसरा था, मगर मेरे उस कथन को अब खयाल में बाँधो तो मेरा संकेत दीख जायगा ।

मगर तुम पूछोगे—तो अपनापन को बढ़ावा क्यों दिया ? क्यों नहीं मेरे पहले कदम को ही रोक दिया । इसलिए कि मैं “निश्चित” नहीं हो पायी थी । तब भी मेरे भीतर एक अभिलाषा थी, जो मुझे उकसा देती थी । परन्तु, अब मैंने उस अभिलाषा का गला घोटकर मार डाला है । अब मेरी वह बात ही नहीं है, जिसे तुम उकसा सकोगे । अब मैं एकदम स्थिर हूँ—निविड अधकार ।

और हाँ, मैं अपने को सँजो ही रही हूँ । यह सँजोना किस दिन काम आएगा, मैं नहीं जानती । सम्भव है, अपने को इतना सँजो लूँ कि अस्तित्वहीन हो जाऊँ ।

देखो, मुझे पत्र न लिखा करो । मैं 'जो सदा अपने अस्तित्व की

ओ मत्स्यगंधा !

नकारात्मक स्थिति में रहती हूँ, अस्तित्व ढूँढ़ने लगती हूँ । वह मिलता नहीं है और मुझे पीड़ा होती है ।”...

पत्र लिख कर अनीता ने उसे पढ़ा और तकिए के नीचे दाब दिया । और तब खूब रोयी । जी भर रोयी । साँभ को अनीता का मन नहीं लग रहा था । जम गई थी । कहीं बहाव नहीं था । पत्थर होगयी थी । चुपचाप सूनी आँखों से आकाश ताकती रही । उससे अपनी तुलना करती रही कि आकाश के नीले शून्य में जो एक ठहराव-सा है, गति नहीं है, मगर गतिहीन नहीं है । कि उसके जीवन का बहाव उस ठहराव से अधिक स्थिर है । कि आकाश नहीं होते हुए भी है । कि वह होते हुए भी नहीं है । कि...वह सम्भल गयी । दोनों में तुलना असम्भव है । उसने कमरे की बत्ती जला दी । साँभ का सूरज अपने को सँजोने की क्रिया में डूब गया था । अँधेरा हो आया था । उसने किताबों की आलमारी खोलकर मन की कोई किताब ढूँढ़ निकालनी चाही । मगर हार गयी ।

तभी आ गयी मालती । अनीता ने किसी तरह मन को बाँधा । उसकी बातों में उलझने का प्रयास करने लगी । मालती महीप की चचेरी बहन है । अनीता उसकी एकान्त अपनी सहेली है । उसी की शादी में महीप से अनीता की मुलाकात हो गई थी ।

मालती कह रही थी—“वो पूछ रहे थे कि अनीता बिगड़ गयी क्या ? आती नहीं । वे अक्सर तुम्हें खोजते हैं । कहते हैं, तुमसे बातें करना बड़ा अच्छा लगता है ।...वे एक दिन पूछ बैठे—अनीता ब्याह क्यों नहीं करती ? ...सच अनीता, अब ब्याह कर लो ।—यह तुम्हारा अकेलापन मुझे नहीं भाता । और एक-न-एक दिन तो करना ही है । प्रकृति की माँग है यह । इससे भागा नहीं जा सकता ।...महीप दादा की चिट्ठी आयी है । वे कुछ दिनों के लिए आनेवाले थे, मगर अब नहीं आएँगे । कारण कुछ लिखा नहीं है । ऐसे मैंने पत्र लिख दिया है—आना ही होगा । महीप दादा बड़े

अच्छे आदमी हैं। तुम तो जानती ही हो उन्हें।...क्यों, तुम्हें वे कैसे लगते हैं ?”...

और अनीता सोच रही है—“शून्य भरा नहीं जा सकता, क्योंकि उसकी गहराई का पता नहीं मिलता। जिन्दगी में आकर्षण के तत्व का कोई महत्व नहीं। आकर्षण निर्मायक नहीं हो सकता।.....और बन्धन मृत्यु है...

उसका वैयक्तिक जीवन बन्धन का विरोधी है।...रूमी ने एक कविता में लिखा है कि प्रेमी ने अपनी प्रेमिका के दरवाजे पर पहुँच कर आवाज दी। भीतर से सवाल हुआ—कौन ? प्रेमी ने जवाब दिया—मैं। दरवाजा नहीं खुला। प्रेमी ने फिर अपनी प्रेमिका के दरवाजे पर जाकर आवाज दी। भीतर से सवाल हुआ—कौन ? प्रेमी ने कहा—तू। दरवाजा खुल गया। ...गलत, गलत, गलत !...

कि मालती ने अपने प्रश्न का उत्तर न पाकर अनीता को झुकझोरते हुए कहा—“क्यों, बोलती क्यों नहीं ? वे तुम्हें कैसे लगते हैं ?”

अनीता ने चौककर पूछा—“कौन।”

“कौन क्या ?” मालती ने मुस्कराते हुए कहा—“जैसे समझती ही नहीं। महीप दा।”

अनीता का सम्पूर्ण अस्तित्व जैसे इस प्रश्न से घबरा उठा। वह इसके लिए कदापि तैयार नहीं थी। उसके मन में हुआ कि महीप का पत्र लाकर उसके सामने रख दे। मगर उसने जबरन हँसते हुए कहा—“अच्छे।”

“अच्छे लगते हैं ?”—और मालती ठाकर हँस पड़ी।

अनीता का मन जाने कैसा हो गया। वह उससे दूर ही रहना चाहती है। इसमें वह गुँथना नहीं चाहती। मगर लोग हैं कि समझते ही नहीं। और यह मालती, क्यों इतनी अनजान बनती है ? वह तो अनीता को जानती है। उसकी सम्पूर्ण परिस्थिति से परिचित है। फिर ऐसा क्यों पूछती है ?

ओ मत्स्यगंधा !

अनीता का मन कहीं चिटकने लगा । उसने बात बदल दी । पूछा—
“मालती चाय पियोगी ?”

“नहीं, कहाँ तकलीफ करोगी ?” मालती ने कहा । कहकर अनीता को देखा । वह गुमसुम बैठी थी । चुप ऐसी कि ध्वनि उसमें थी ही नहीं । मालती ने जैसे बात को समझने का प्रयास करते हुए, वातावरण को हल्का करने के खयाल से कहा—“क्यों, रुठ गयी क्या ? बिना चाय पिलाए नहीं मानोगी ।”

“रूठूंगी क्यों ?”—अनीता ने मुस्काने का प्रयास किया—“मगर चाय जरूर पिलाना चाहती हूँ ?”

“तो लाओ ।” मालती ने मुस्कान का जवाब मुस्कान से दिया ।

अनीता आँगन में चली गयी । महाराजिन को पुकारकर चाय बनाने के लिए कहा और मालती के पास लौट आयी । मालती चुपचाप छत निहार रही थी । अनीता ने आकर कहा—“मालती, मैं कुछ दिनों के लिए कहीं बाहर जाना चाहती हूँ । यहाँ मन बिल्कुल नहीं लगता । हर समय ऐसा लगता है कि उदासी की कोई कैंटीली डोर मुझे बाँधे है और मैं छिदी जा रही हूँ ?”

“तो कहाँ जाओगी ?”

“कहीं भी । किसी जगह । कुछ घूम आऊँगी तो मन बहल जायेगा । और आजकल छुट्टी भी है । इतनी लम्बी छुट्टी बराबर नहीं मिलती ।”

“यह तुम्हारे मन को क्या हो गया है अनीता ? पहले तो नहीं होता था ऐसा । तुम !”.....

“मैं तुम्हारा संकेत समझ रही हूँ । जानती हूँ कि तुम क्या कहना चाहती हो । मगर मुझमें अब कुछ दीखेगा, ऐसा नहीं प्रतीत होता ।”

महाराजिन चाय लायी । अनीता ने बनायी और मालती की ओर बढ़ा

अनीता

दी । मालती के होंठ खामख्वाह प्याले को चूमने लगे । चाय पीकर मालती ने कहा—

“अनीता, अब मैं जाऊँगी ।

“जाओगी !...कहाँ जाओगी ? थोड़ी देर और बैठो न ।” अनीता ने कहा ।

मालती ने उठते हुए कहा—“नहीं अनीता, अब बहुत देर हो गयी । वे इन्तजार करते होंगे ।”

अनीता ने कहा—“अच्छा ।”

मालती चली गयी तो अनीता फिर सिमटने लगी । कमरे में बिस्तर पर लेट रही और खिड़की से झाँकते पूनम के चाँद को पीने लगी । मन भी वातावरण की नाई निस्तब्ध हो आया । काफी देर तक इसी तरह पड़ी रहने के बाद अनीता ने तकिए के नीचे से महीप का लिखा पत्र निकाला । पढ़ा, रोयी ।

आधी रात को अनीता ने अपनी डायरी निकाली और लिखना शुरू किया—मन पागल होता है । उसे दबाना चाहिए ।...महीप के पत्र ने कुछ उकसा दिया है ।

नहीं जानती क्या ? सम्भव है, वह उसी का हो । परन्तु ऐसा प्रतीत होता है, वह मेरा भी है । महीप की बातों ने मुझे छू दिया है । मैं सिहर रही हूँ । मगर उस स्पर्श से पलायन करना होगा । नहीं जानती यह पलायन सम्भव है या नहीं । मगर यही राह है, बाकी कुछ नहीं ।...महीप मुझे क्यों पाना चाहता है ?

परन्तु कभी-कभी लगता है—मैं भी महीप को पाना चाहती हूँ । क्यों ? किसलिए ? सम्भव है मेरी वासना...मगर वह झूठ है । मैं जब सोचती हूँ, विचारती हूँ, तो लगता है कि ठीक ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

मालती आयी थी । उसने भी महीप को खींचकर जोड़ दिया । सब

ओ भक्त्यगंधा !

यही चाहते हैं । आखिर इसका मतलब क्या होता है ?...मालती को मालूम है क्या कि महीप मुझे “प्यार” करता है ?

अब यहाँ से जी ऊबने लगा है । मन होता है, कहीं हो आऊँ । विचार पक्का हो गया तो परसों चली जाऊँगी । मगर कहाँ ?.....इलाहाबाद ।”

सुबह काफी देर से उठी । शरीर अवश्य कुछ भारी मालूम पड़ता था, मगर मन हल्का हो आया था । स्नान करके आज उसने पहली बार पूजा की, जाने किसकी, और इलाहाबाद जाने का निश्चय कर लिया । इससे उसे सुख हुआ, एक सन्तोष मिला । शाम को वह मालती के यहाँ गयी और उसे अपने इलाहाबाद जाने के निश्चय की सूचना दे आयी ।

रात को सदा की तरह बहुत देर तक जगी रही और अन्धकार से छत पर सिमट आए शून्य को बेधने का प्रयास करती रही ।

दूसरे दिन जब वह इलाहाबाद जाने के लिए स्टेशन आई तो गाड़ी आने में काफी देर थी । हिन्दुस्तानियों को “लेट” करने की तो खान्दानी आदत होती है, हिन्दुस्तानी गाड़ियाँ उनसे भी बढ़कर होती हैं । मालती साथ आई थी यही गनीमत थी । आज वह सदा से कुछ और थी—चंचल, गतिशील और कदाचित् प्रसन्न । अनीता की गाड़ी आने में काफी देर थी, इसलिए वह मालती के साथ प्लेटफार्म पर चहलकदमी कर रही थी और नाना विषयों पर बातचीत कर रही थी । उसे लग रहा था कि वह काफी हल्की हो आई है । जिस बोझ से दबी जा रही थी, वह उतर गया—सा था । इसलिए वह सहज हो आई थी और सुगम ।

एकाएक मालती को न जाने क्या सूझा वह पूछ बैठी—अनीता, तुम्हारा मन एकान्त से नहीं ऊबता ? अनीता घबड़ाई । इस समय इस प्रश्न के लिए वह तैयार नहीं थी । मगर सँभल गई । एकान्त में किसका मन नहीं ऊबता ? मैं इन्सान नहीं हूँ क्या ? मालती ने फिर पूछा—“तो तुम अकेली ही क्यों बनी रहना चाहती हो ? क्यों नहीं न्याह कर लेती ? माना कि

कुछ कारण ऐसे हैं जो रोकते हैं । मगर उन कारणों में तबदीली नहीं लाई जा सकती ?”

अनीता ने कोई जवाब नहीं दिया । एकदम गंभीर हो आई । मालती ने अनीता की गंभीरता को नहीं देखा । वह फिर कहने लगी—“इधर कुछ दिनों से मैं देख रही हूँ, तुम अपने में बहुत अधिक संकुचित होती जा रही हो । बहुत कम बोलती हो, बहुत कम हँसती हो । आखिर क्यों ? मैं तुमको समझने का प्रयास करती हूँ । मगर नहीं समझ पाती । ऐसा प्रतीत होता है कि तुम किसी द्वन्द्व में पड़ी हो, उलझन में पड़ी हो और सुलझ नहीं पा रही हो । वह कौन-सा द्वन्द्व है अनीता जो तुम्हारी सुखरता को पिये जा रहा है ? तुम बताती क्यों नहीं ।”

अनीता की चंचलता एकदम गंभीर हो गई । तभी “लाइन क्लियर” की घंटी बज उठी । अनीता ने कलाई में बँधी घड़ी देखी और अनमने भाव में कहा—“अब कमबख्त आ रही है । पूरे दो घंटे लेट । कुछ समझ में आता ही नहीं कि किस रफ्तार से चलती है ।”

मालती बहाना ताड़ गई । उसने कहा—“तुम्हारी ही रफ्तार मालूम पड़ती है । गति में भी भयानक स्थिरता का प्रतीक ।”

अनीता का मन कचोट उठा । उसका जी रोने को आ गया । एक मर्यान्तक पीड़ा से वह भीतर ही भीतर कराह उठी । मगर जन्त कर गई । कुछ कहा नहीं । दोनों के बीच खामोशी की एक अदृश्य दीवार-सी खिंच गई ।

दूर से भागती आती गाड़ी का मटमैला धुआँ दीख पड़ा । अनीता पहले से ही गाड़ी पर सवार होने के लिए तैयार हो गई । गाड़ी आई तो खचाखच भरी थी । कहीं तिल रखने की जगह नहीं थी । बड़ी मुश्किल से अनीता को खड़ा होने भर की जगह मिल सकी । मालती ने खिड़की पर जाकर पुकारा—“अनीता ।” तो भीतर से आवाज आई—“क्या कहती

ओ मत्स्यगंधा !

हो ! हिलडुल भी नहीं सकती । साँसत में पड़ी हूँ । मालती ने फिर पुकार कर कहा—“तो जाना कौन जरूरी है ! उतर आओ ।”

अनीता का भीतर से गंभीर स्वर आया—“नहीं ।”

लेकिन इलाहाबाद में भी अनीता का जी नहीं लगा । उदासी के जिस आलम से उसने पलायन किया था, वह वहाँ भी था । बल्कि एक शून्य, जो हमेशा उसे घेरे रहता था, वह और भी गहरा हो आया था । हफ्ते भर बाद उसने मालती को पत्र लिखा—“मालती, मैं यहाँ आई कि बहाव मिलेगा । मगर यहाँ और जड़ होती जा रही हूँ । पता नहीं यह मेरे साथ क्या हो गया है कि कहीं उदासी छूटती नहीं । मैं सोच-सोच कर हार जाती हूँ । जी होता है खूब रोने को । रोती भी हूँ खूब, मगर शान्ति नहीं मिलती ।

गाड़ी में काफी भीड़ थी । काफी देर बाद बैठने भर को थोड़ी जगह मिल गई । तुम्हीं को याद करती रही । गाड़ी में एक अजीब घटना हो गई । बीच रास्ते में एक पगली गाड़ी में घुस आई । कभी जोर-जोर से रोती और कभी जोर-जोर से हँसती । मुझे उसे देखकर अजीब पीड़ा हो रही थी । इलाहाबाद से एक-दो स्टेशन पहले गाड़ी रुकते ही वह डब्बे से उतर गई और एक पुरुष को पकड़ कर जोर-जोर से रोने लगी । काफी भीड़ जमा हो गई । पुरुष बिचारा उससे अपने को लाख छुड़ाने की कोशिश करता, मगर वह उससे और चिमटती जाती । किसी तरह लोगों ने छुड़ाया ।

डब्बे की एक औरत कह रही थी कि वह उसे जानती है । उसी के गाँव के पास की है । जात की ब्राह्मण है । किसी दूसरी जाति के लड़के को प्यार करती थी । एक दिन उसके बाप को मालूम हो गया । उसने उस लड़के को गुस्से में आकर कत्ल कर दिया । तब से वह पागल हो गई है । बाप को फाँसी हो गयी और यह इधर-उधर मारी-मारी फिरती है, रोती-चिल्लाती फिरती है । सोचो मालती, यह पागलपन का रोग क्या बड़ी तेजी से बढ़ नहीं

रहा है। हमारा समाज है कि इसे समझता नहीं और हम हैं कि यह रोग पाले जाते हैं।

तुम तो अच्छी हो। अच्छी-भली रही हो। मैं कैसी हूँ? वैसी ही। पत्र जरूर देना। चार-पाँच दिनों के भीतर ही मालती का जवाब आ गया। लिखा था—“तुम अपनी उदासी के बारे में मुझे न लिखा करो। वह तुम्हारी अपनी है। उसे तुम किसी को छूने नहीं दे सकती। तुम मुझे अपनी ओर खींचती हो, फिर छुड़ाकर भाग जाती हो। ऐसा क्यों करती हो अनीता? तुम्हारे प्यार में इतना कटाव क्यों है?”

अब तुम चली आओ। हो चुका। इलाहाबाद घूम चुकी तुम।...

महीप दा आए हैं। चले जाने वाले थे। मगर गोटी निकल आयी। इसीलिए रुक गये। तुमको बहुत पूछते हैं।

सच, अनीता, एक बात बताओगी? महीप दा की बातों से पता चला कि तुम दोनों का आपस में पत्र-व्यवहार भी होता रहा है। वे तुम्हें बहुत चाहते हैं, मन-प्राण से चाहते हैं। क्या तुम भी उन्हें प्यार करती हो?”

अनीता का मन पत्र पढ़कर अजीब-सा हो गया। एकदम तिलमिला उठी। तुरन्त पत्र का जवाब लिखने बैठ गयी। कई बार लिखा, मगर फाड़ डाला। कुछ समझ में नहीं आता था कि क्या लिखे। अन्त में बहुत सँभाल-सँभाल कर उसने पत्र लिखना शुरू किया—“मालती, इस बार तुमने अजीब-सा प्रश्न कर दिया है। न जाने क्यों, जिसका उत्तर देने से मैं हमेशा भागती रही हूँ, आज बेचैन हो उठी हूँ कि क्या करूँ?”

तुम जानती हो, तुम्हारे महीप दा से मेरा परिचय तुम्हारे विवाह के मौके पर हुआ था। वह बहुत समीप खिंच आये थे। मेरा पत्थर भी जाने कैसे रगड़ चला था। और वे मुझे कदाचित् प्यार करने लगे थे। तुम्हारी शादी के बाद महीप से फिर मेरी मुलाकात न हो सकी। एक दिन उनका पत्र मिला। मैं समझ नहीं पायी—कैसे? क्यों? मैंने नहीं चाहते हुए भी उसका

ओ मत्स्यगंधा !

उत्तर दिया । पत्र की संख्या बढ़ती गयी । वे खुलते गये, मैं बँधती गयी । अभी इलाहाबाद आने के पहले उनका पत्र मिला था । वह पत्र मैं तुम्हें दे रही हूँ । मैं अभी तक निश्चित नहीं कर पायी हूँ कि उसका क्या जवाब दूँ । कई बार उसका जवाब लिखा, मगर भेज नहीं पायी ।

मैं तुम्हारे प्रश्न का स्पष्ट उत्तर क्या दूँ ? मेरे सामने कुछ स्पष्ट है भी नहीं ।

अपने महीप दा के स्वास्थ्य के लिए मेरे अन्तर्मन की शुभकामनाएँ स्वीकार करो । और मैं दे ही क्या सकती हूँ ?”

दो सप्ताह गुजर गए । मालती का कोई जवाब नहीं आया । अनीता का मन आशंकाओं से मरने लगा । आखिर क्यों मालती ने पत्र का जवाब नहीं दिया ? लिखा था—महीप की तबीयत खराब है । गोदी निकल आयी है । कहीं कुछ...। उसकी बेचैनी बढ़ने लगी ।

गाड़ी अनीता को लिए भागी जा रही है, मन अनीता को छोड़कर भागा जा रहा है ।

आज उसकी आँखों के आगे उसका सम्पूर्ण जीवन सिमटा आ रहा है, रेखाएँ खिंचती आ रही हैं और वह अपने को पढ़े जा रही है ।

खिड़की के बाहर आँखें फैलाकर वह देखती है—विराट् अंधकार फैला है । वह उस अंधकार को देखती रहती है । उसकी आँखों के आगे मालती के घर का एक छोटा कमरा नाच उठता है । उसमें एक पलंग पर महीप सोया है । वहाँ कोई नहीं है, केवल निस्तब्धता है । वह जाती है । महीप के शरीर को छूती है । उसमें कोई स्पन्दन नहीं होता, सिहरन नहीं पैदा होती । हाँ, उसकी शीतलता उसके बदन में झुरझुरी उत्पन्न कर देती है । वह डर जाती है । पुकारती है, चीखती है, चिल्लाती है । मगर खामोशी नहीं टूटती । तब वह भागती है, मगर जैसे कोई उसके पाँव पकड़ लेता है; चीखती है, चिल्लाती है मगर जैसे कोई कंठ के नीचे ही स्वर दबा देता है ।

अनीता

अनीता ने शरीर को एक झटका दिया। वह क्या सोचती है। उसने अपने को सँभाला।...ऐसा भी कहीं सोचते हैं?...उसने अटैची से अँग्रेजी की पत्रिका निकाली और उसको पढ़ने का प्रयत्न करने लगी।

अनीता ने धड़कते दिल से मालती के मकान में कदम रखा। दोपहर का समय था। कोई एक बज रहा होगा। अनीता सीढ़ियों से ऊपर चली गयी। मालती अपने कमरे में आँखें मूँदे पड़ी थी। अनीता को चारों ओर की स्थिरता और गम्भीरता खाये जा रही थी।

अनीता ने मालती को आहिस्ते से पुकारा—“मालती।”

मालती चौंक कर उठ बैठी। उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। वह फटी आँखों से अनीता को निहारती रही। एकाएक उसकी आँखों में आँसू उमड़ पड़े। अनीता का हृदय धक से रह गया। एक अन्तर्व्यापी पीड़ा से वह बेचैन हो गयी। उसने मालती को झकझोरते हुए पूछा—“क्या हुआ मालती?”

मालती के आँसू स्वर में फूट पड़े। वह फफक उठी।

अनीता ने रुँधे स्वर में पूछा—“क्या हुआ मालती?” मालती एकदम अनीता से लिपट गयी—“वह मर गया अनीता, वह मर गया।”

अनीता ने किसी तरह अपने को सँभाला—“कौन।”

“मेरा बच्चा।” मालती ने रोते हुए कहा।

कुछ देर बाद जब मालती शान्त हुई तो अनीता ने पूछा—“कैसे मरा?”

“मरा ही पैदा हुआ था।” मालती का स्वर अब भी गीला था।

कुछ देर ठहरकर अनीता ने प्रश्न किया—“और तुम्हारे महीप दा। वे कहाँ हैं?”

मालती ने कहा—“सुबह ही तो गये हैं।”

अनीता ने कोई जवाब नहीं दिया। पड़ले-सी गम्भीर और स्थिर हो आयी।

रेणु की गुड़िया का दूल्हा

[...मगर समस्या तो यह है कि मैं उसकी गुड़िया के लिए दूल्हा कहाँ से लाऊँ ? गुड़िया तो कई बार ला चुका हूँ, मगर रेणु का कहना है कि उसे किसी लायक बाप का बेटा भी होना चाहिए, घर-खानदान भी काफी अच्छा हो । लावारिसों को वह अपना दामाद बनाने को तैयार नहीं । उसकी माँ कहती है—“तो आप शादी कर लीजिए न । गुड़िया के दूल्हे की समस्या आप ही हल हो जायगी ।” लेकिन मेरा कहना है, समस्या का हल इतना आसान नहीं ।...]

अभी दफ्तर से लौट कर अपने कपड़े उतार ही रहा था कि दरवाजे पर किसी की नन्हीं-नन्हीं थपकियाँ सुनकर दरवाजा खोल देना पड़ा। देखा, रेणु दरवाजे के पास एकदम उदास मुँह लटकाए खड़ी है। मैंने अपनी हँसी को भरसक दबाने की कोशिश करते हुए पूछा—“क्या बात है, रेणु ? आज क्या फिर पुरानी चिंता उभर आई है ?”

रेणु ने कोई जवाब नहीं दिया। चुपचाप मुँह लटकाए आकर चारपाई पर बैठ गई। इंतजार किया। वह कुछ बोली नहीं। आज वह और दिनों से कुछ ज़्यादा गम्भीर मालूम पड़ती थी।

एकाएक रेणु उठ खड़ी हुई। मैंने टोका नहीं। चुपचाप उसे कनखियों से देखता रहा। वह कमरे से बाहर जाने को हुई, पर दरवाजे के पास जाकर रुक गई। मुझे आहिस्ता से पुकारा—“राज दादा !”

“क्या है रे ?” मैंने मुस्कराते हुए पूछा।

“मैं आज से आपसे एकदम नहीं बोलूँगी। कुट्टी !”

अब मैं अपनी हँसी को न रोक सका। दौड़कर उसे गोद में उठा

ओ मत्स्यगंधा !

लिया। पूछा—“क्या बात है रे ? आज अपने राज दादा से एकदम कुट्टी कर लेने का इरादा कर लिया है !”

“हाँ।” उसने उसी तरह मुँह लटकाए हुए कहा—“क्यों बोलूँगी आपसे भला ? नहीं बोलूँगी। कभी नहीं बोलूँगी। एकदम नहीं बोलूँगी।”

“मगर आखिर कोई बात भी हो।” मैंने हँसते हुए कहा।

“बात कैसे नहीं है भला ?” रेणु ने ज़रूरत से ज़्यादा गम्भीर बनते हुए कहा—“मैंने आपसे लाखों बार कहा कि नहीं कि मेरी गुड़िया सयानी हो गई ? उसके लिए एक अच्छा-सा दूल्हा ढूँढ़ दीजिए। मगर आप रोज भूल जाते हैं। तब आपके साथ दोस्ती कैसी ?”

“ओफ़ ओ ! अब समझा।” मैंने भी गम्भीर बनने की कोशिश करते हुए कहा—“ठीक। यह तो मैं भूल ही जाता हूँ कि तुम्हारी गुड़िया सयानी हो गई और मुझे उसके लिए कोई दूल्हा ढूँढ़ देना चाहिए। अच्छा, कल ज़रूर उसके लिए कोई दूल्हा ढूँढ़ दूँगा। अब तो दोस्ती करोगी न ?”

“नहीं ! नहीं ! नहीं ! हजार बार नहीं ! लाख बार नहीं !!” उसने गोद से उतरते हुए कहा—आपका क्या ? आप कल फिर भूल जायेंगे।” और इसके पहले कि मैं उसे पकड़ लूँ और दोस्ती कर लेने को मजबूर कर दूँ, वह दौड़कर कमरे से बाहर भाग गई।

और सचमुच, यह एक बहुत बड़ी समस्या है। रेणु की गुड़िया सयानी हो गई है। उसके लिए कोई योग्य दूल्हा ढूँढ़ना ही पड़ेगा। और यह दूल्हा रेणु के राज दादा को ही ढूँढ़ना पड़ेगा। दूसरों का क्या भरोसा ? कहीं काना-कुबड़ा ढूँढ़ दें तो ?”

रेणु की गुड़िया सयानी हो गई है—इसकी फिक्र उसकी माँ को भी है और उसके मामा को भी। कई बार दूल्हा ढूँढ़ा भी गया, मगर रेणु को पसन्द नहीं आया। वह दूल्हा अच्छा कैसे हो सकता है भला, जिसे रेणु के राज दादा ने नहीं ढूँढ़ा ?

रेणु की गुड़िया का दूल्हा

और सबसे बड़ी समस्या यह है कि रेणु की गुड़िया के लिए दूल्हा ढूँढ़ कहाँ से जाय। अपने राम के मित्रों में ऐसा एक भी बड़भागी नहीं, जिसके यहाँ रेणु की सयानी गुड़िया के लिए योग्य वर उपस्थित हो। सच तो यह है कि रेणु के राज दादा के सारे मित्र कुँआरे हैं !

खैर, इस समस्या पर फिर कल विचार करने का निश्चय कर मैं अपने काम में लग गया। दफ्तर के बहुत से कागजों को देखना था। उनमें ही उलझ गया। कब रात को नौ बज गया, पता ही नहीं चला। ध्यान तब टूटा, जब दरवाजे पर फिर उन्हीं नन्हीं थपकियों की आवाज़ सुन पड़ी। उठकर दरवाज़ा खोल दिया। देखा, रेणु सिर झुकाए खड़ी है। मैं कुछ बोला नहीं। लौट आकर फिर कुर्सी पर जम गया। रेणु कुछ क्षण दरवाजे पर ही खड़ी रही, फिर आकर मेरी कुर्सी की बगल में खड़ी हो गई। मुझे आहिस्ता से पुकारा—“राज दादा !”

मैंने कोई जवाब नहीं दिया। आती हुई हँसी को जबरन दबाए बैठा रहा।

रेणु और पास सरक आई। मेरे बालों को अपनी अँगुलियों में लपेटते हुए फिर पुकारा—“ओ राज दादा !” और फिर जवाब न पाकर बालों को खींचते हुए चीख-सी उठी—“सुनते हैं राज दादा ? हजार घंटे से पुकार रही हूँ। माँ बुला रही हैं।”

मैंने बनावटी गुस्से के स्वर में जवाब दिया—“नहीं जाऊँगा, जाओ !”

“क्यों नहीं जाइएगा भला ?”

“नहीं जाऊँगा, नहीं जाऊँगा। मेरा मन। नहीं जाऊँगा।”

रेणु इस बार एकदम खामोश हो गई। मैं अपने को कागजों में उलझाए रखने की कोशिश किए रहा। एकाएक मेरा ध्यान कुछ थोड़ी-सी सिसकियों ने तोड़ दिया। अब मैं अपने को और अधिक न रोक सका। भट्ट रेणु को गोद में खींच लिया। वह और जोर से सिसक उठी।

ओ मत्स्यगंधा !

मैंने समझाने की कोशिश की—“चलो-चलो । रोने लगी ? बस ?
अमी तो कुट्टी करके गई थी न ?”

रेणु की सिसकियाँ अब स्वर में फूट पड़ीं—“मैंने कुट्टी सचमुच में थोड़े
ही की थी !”

“ओह”—मैंने मुस्कराते हुए कहा—“अच्छा, तो अब सचमुच दोस्ती
कर लो ।” और उसे गोद में उठाए उसकी माँ के पास चल पड़ा ।

यह रेणु मेरे जीवन में इस तरह घुल-मिल गई है कि लगता है, अब
इसके बिना मैं नहीं रह सकूँगा । मैं हूँ, इसलिए कि रेणु का राज दादा हूँ ।

मगर आज से दो साल पहले तो मेरे लिए यह रेणु नहीं थी । तब
कभी ऐसा नहीं लगता था कि मेरे व्यक्तित्व का कोई अंश निरा शून्य है ।
परन्तु, आज जब रेणु है, तब लगता है कि यदि यह नहीं होती तो मेरे
व्यक्तित्व का कोई अंश अवश्य शून्य ही रह जाता ।

यह रेणु मेरी अपनी बहन नहीं है और न मैं ही रेणु का अपना भाई
हूँ । फिर भी रेणु मेरी अपनी बहन से ज़्यादा मेरी बहन है ।

वह पड़ोस की एक विधवा मास्टरनी की बेटी है, जो अपने भाई के
साथ रह कर रेणु की जिंदगी बनाने की फिक्र में डूबी रहती है । आज से
आठ साल पहले, जब रेणु पैदा हुई थी, तभी उसके पिता उसे छोड़कर चल
बसे थे ।

अक्सर रेणु मुझसे अपने पिता के बारे में पूछती है—“वे कहाँ हैं राज
दादा ? आप जरूर जानते होंगे । माँ कहती हैं, वे बहुत दूर चले गए हैं,
चीन-जापान से भी दूर । यह चीन-जापान कहाँ है राज दादा ? बताइए न
राज दादा, माँ कहती हैं वे एक दिन जरूर आएँगे, वे कब आएँगे भला ?”
और मैं कोशिश करके भी जवाब नहीं दे पाता । वह मुझसे बार-बार पूछती

रेणु की गुड़िया का दूल्हा

है। मान कर पूछती है, रूठ कर पूछती है। मगर मैं कोई उत्तर नहीं दे पाता। तब वह मुझसे कुट्टी कर लेती है और भाग जाती है।

एक दिन संध्या समय मैं अपने कुछ दोस्तों के साथ घूमने जाने के लिए कमरे से निकला ही था कि दरवाजे पर ही रेणु मिल गई। उसने दौड़कर मुझे पकड़ लिया और हाथ पकड़ कर खींचते हुए बोली—“देखिए, राज दादा, मेरी बड़ी गुड़िया है न, उसको लड़का हुआ है। बड़ा सुन्दर है। चलिए न, सबसे पहले आपको ही दिखाऊँगी।”

मैंने बहुत समझाने की कोशिश की कि मुझे बहुत-से जरूरी काम हैं और मेरा जाना जरूरी है। रात को लौटकर उस नवजात गुड़िया के बच्चे को जरूर देखेंगे। मगर एकाएक मेरी अपील खारिज करते हुए कुट्टी की धमकी दे दी गई। और मुझे हार कर अपने सारे प्रोग्राम को रद्द कर देना पड़ा और दोस्तों से छूट कर उसकी सहेलियों के बीच बैठ कर घण्टों सोहर गाना पड़ा, तब फुर्सत मिली।

मगर तब भी फुर्सत कहाँ मिली? वहाँ से आकर कमरे में बैठा ही था कि फिर आ पहुँची। कुछ देर कमरे के सामान की तलाशी लेने के बाद मेरे पास आकर कानों में बोली—“एक बात कहूँ, राज दादा?”

“कहो।” मैंने उसके कहने के अन्दाज़ पर मन-ही-मन भूमते हुए कहा।

“पहले कहिए कि आप जरूर कीजिएगा।”

“करूँगा भाई, करूँगा। जरूर करूँगा।” मैंने उसके कहने के लहजे का मज़ा लेते हुए कहा।

“उसको जो बच्चा हुआ है न, उसके लिए थोड़ा-सा कपड़ा ला दीजिए।”

ओ मत्स्यगंधा !

“ला दूँगा ।”

“नहीं, अभी ला दीजिए ।”

“बाप रे ! इस रात को तुम्हारी गुड़िया के बच्चे के लिए कपड़ा लाने तो मैं नहीं जाऊँगा ।” मैंने कहा—“हाँ, मगर कल जरूर ला दूँगा ।”

लेकिन रेणु ने जिद पकड़ ली—“नहीं, अभी ला दीजिए । रात को उसे जाड़ा नहीं लगेगा क्या ?”

“लगेगा बाबा, जरूर लगेगा ।” मैंने उसकी बात पर हँसते हुए कहा—“मगर आज मैं जाने का नहीं । आज माँ से कोई कपड़ा माँग लो । कल जरूर ला दूँगा ।”

बस, रेणु एकदम खामोश हो गई । उठी और चल पड़ी । दरवाजे पर पहुँचकर उसने मेरी ओर देखा और “जाइए, आपसे कुट्टी” कहते हुए भाग गई ।

मैं सोच में पड़ा ही था कि रेणु की माँ कमरे में आ उपस्थित हुई । मुस्कराते हुए पूछा—“आज रेणु की अपने राज दादा से फिर लड़ाई हो गई है क्या ?”

“नहीं तो ! क्यों ?” मैंने उठते हुए सवाल किया ।

“देखती हूँ कि रेणु बिस्तर पर पड़ी रो रही है । पूछने गई, तो कहती है—हम किसी से नहीं बोलेंगे, हमने सबसे कुट्टी कर ली है । यह बीमारी तो आप ही की लगाई हुई है न, इसलिए खबर देने चली आई ।” रेणु की माँ ने जवाब दिया ।

रेणु की माँ के साथ जाकर मैंने देखा कि रेणु बिस्तर पर पड़ी-पड़ी रो रही है । बहुत मनाया-समझाया, मगर वह किसी भी शर्त पर दोस्ती करने के लिए तैयार नहीं हुई ।

हार कर मुझे अपना अन्तिम अस्त्र चलाना पड़ा—“ठीक है । मत बोलो । आज से हम भी कुट्टी किए लेते हैं ।”

रेणु की गुड़िया का दूल्हा

रेणु हड़बड़ा कर उठ बैठी। वह सब कुछ सह सकती है, मगर यह नहीं सह सकती कि उसके राज दाद उससे कुट्टी कर लें। वह कुट्टी करती है, ठीक करती है। जरूर करेगी। क्यों नहीं करेगी भला ? उसे राज दादा से कुट्टी करने का अधिकार है। मगर राज दादा उससे कुट्टी नहीं कर सकते, कभी नहीं कर सकते।

और तब मुझे उस रात को रेणु की गुड़िया के बच्चे के लिए कपड़े लाकर देने पड़े, क्योंकि जब तक रेणु की उसके राज दादा से दोस्ती नहीं हो जाती, वह अपने से भी रुठी रहेगी !

कभी-कभी मैं रात-रात भर इस रेणु के बारे में सोचता हूँ। यह कौन है ? यह कौन है, जो मेरे जीवन में इस तरह समा गई है कि मुझे अपने आप को भी ढूँढ़ना पड़ता है ?

मगर आज से दो साल पहले तो ऐसा नहीं था। मैं यहाँ नया-नया आया था। जिस मकान में रहता हूँ, उसी की बगल में रेणु रहती है। महीनों गुजर गए, मैं अकेला का अकेला ही रहा।

बस, एक दिन, जब मैं दफ्तर से वापस आ रहा था, अपने मकान के बरामदे पर एक छः-सात साल की लड़की को बैठे देखकर आश्चर्य-चकित रह गया। समीप जाकर देखा, तो उसकी मुद्रा से एकाएक हँसी आ गई। मालूम पड़ता था कि वह किसी व्यक्ति से बेतरह रूठ गई है।

मैंने और भी समीप जाकर सवाल किया—“क्या नाम है तुम्हारा ?”

उसने कोई जवाब न देकर अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया।

मैंने उसके पास ही बैठते हुए दुबारा सवाल किया—“क्यों, बताते लाज लगती है क्या ? तुम्हारा नाम क्या है ?”

उसने अपने चेहरे को तनिक और गम्भीर बनाते हुए उनुक कर

ओ मत्स्यगंधा !

कहा—“नहीं ! लाज क्यों लगेगी भला ? बस, हम किसी से नहीं बोलेंगे । हमने सबसे कुट्टी कर ली है ।”

मुझे एकाएक जोरों की हँसी आ गई । मैंने उसे गोद में उठाते हुए कहा—“अच्छा, यह बात है ? तो एक काम करो । केवल मुझसे बोला करो । मुझसे तो कुट्टी नहीं हुई है न ?”

वह झट मेरी गोद से उतर गई । बोली—आप मुझको मना रहे हैं ? मगर हम नहीं मानेंगे । हमने माँ से कह दिया है, हम कभी नहीं मानेंगे । और हम किसी से नहीं बोलेंगे । हमने सबसे कुट्टी कर ली है !”

मैंने फिर उसे गोद में उठा लिया और लेकर अपने कमरे में चला आया । और फिर हम दोनों में दोस्ती हो गई । बात-ही-बात में मैं उसका राज दादा हो गया ।

दूसरे दिन मैंने उससे सवाल किया—“अच्छा जी, तुनने उस दिन क्यों सबसे कुट्टी कर ली थी ?”

उसने अपनी गम्भीरता को और भी गम्भीर बनाते हुए कहा—“कुट्टी नहीं करती भला ? माँ से कई बार कहा कि मेरी गुड़िया के लिए एक अच्छा-सा दूल्हा ढूँढ़ दो । मगर वह रोज भूल जाती हैं । आखिर मेरी गुड़िया सयानी हो गई है कि नहीं ?”

मैंने हँसते हुए कहा—“जरूर हो गई है । अच्छा, मैं उसके लिए दूल्हा जरूर ढूँढ़ दूँगा ।”

“सच, राज दादा ?”

“सच !”

और आज फिर वही समस्या उठ खड़ी हुई है । रेणु मुझसे कुट्टी करके चली गई है । एकदम, हमेशा के लिए । उसकी माँ आकर मेरे दरवाजे पर

रेणु की गुड़िया का दूल्हा

खड़ी हैं। रेणु ने दिन भर कुछ खाया-पीया नहीं है। केवल बिस्तर पर पड़ी-पड़ी रोती रही है। मनाने जाने पर अपनी वही पुरानी बात दुहरा देती है—“हम किसी से नहीं बोलेंगे। हमने सबसे कुट्टी कर ली है।”

मगर समस्या तो यह है कि मैं उसकी गुड़िया के लिए दूल्हा कहाँ से लाऊँ ? गुड्डा तो कई बार ला चुका हूँ, मगर रेणु का कहना है कि उसे किसी लायक बाप का बेटा भी होना चाहिए, घर-खानदान भी काफी अच्छा हो। लावारिसों को वह अपना दामाद बनाने को तैयार नहीं।

उसकी माँ कहती हैं—“तो आप शादी कर लीजिए न। गुड़िया के दूल्हे की समस्या आप ही हल हो जाएगी।”

लेकिन मेरा कहना है कि समस्या का हल इतना आसान नहीं। यह सही है कि अगर मैं शादी कर लूँ, तो रेणु की गुड़िया के दूल्हे की समस्या का निदान किसी दिन उपस्थित हो जायगा जरूर, मगर तब तक तो रेणु के लिए ही दूल्हा ढूँढ़ने के लिए मुझे घर-घर दौड़ना पड़ेगा। आज तो मैं बहाने करके उसे मना भी लेता हूँ, मगर उस दिन मैं उससे कोई बहाना नहीं कर सकूँगा। और यदि कोई गलती हो गई, तो रेणु सचमुच हमेशा के लिए मुझसे कुट्टी कर लेगी और मैं उसे किसी भी तरह मना नहीं सकूँगा।

खैर आज तो मैं उसे मना ही लूँगा। मगर इससे समस्या हल नहीं हो जाती।

बहुत सम्भव है, रेणु कल फिर कुट्टी कर ले !

संख्या का निर्णय

[.....निशा के चित्र । चर्म का आवरण । आवरण में छिपा हुआ कंकाळ । निशा मर जाएगी । दिलीप भी मर जाएगा । बस, खोपड़ी रह जाएगी । खोपड़ी से भय मालूम होगा । तब, खोपड़ी भी नहीं रह जाएगी । केवल भय रह जाएगा ।....]

यह ठीक नहीं है। बिखरी लटों को संभाल दिया गया।

ठीक है। पाउडर का “पफ्” आज बेहद कामयाब लगता है। काजल की किनारी को महीन करते-करते कोर पर झुका देने से आँखें कमान बन जाती हैं। साड़ी के फुरहरे की चुन्नट भँभोर खाने लगे, तभी मन विधेगा।

ठीक है। आज उसकी मौत निश्चित है।

आज जनवरी की पच्चीस तारीख है। रेखा का जन्म आज ही हुआ था। सालगिरह के उत्सव का आयोजन है। यह आयोजन पिछले साल भी हुआ था और अगले साल भी होगा। रेखा विश्वास जब तक इस दुनिया में रहेगी, यह आयोजन होता ही रहेगा। मगर आज के इस आयोजन का अपना अलग महत्व है। आज की पच्चीस जनवरी को रेखा विश्वास पच्चीस की सीमा में पहुँच गई। यह आवश्यक भी है। उनका प्रत्येक साल किसी संख्या की सीमा में पहुँचना और फिर उसे पार कर जाना बहुत आवश्यक है। नहीं, यह ठीक नहीं है। संख्या का जाल विभ्रम पैदा करता है। मूल्यांकन की प्रतिभा आहत हो जाती है। संख्या निर्मायक

ओ मत्स्यगंधा !

नहीं हो सकती । निर्णय का पक्ष दूसरा है । ठीक है । निर्णय का पक्ष दूसरा है । निर्णय कर लिया गया । दिलीप इतना मूर्ख नहीं है । कलाकार है—रेखाओं के बाँकपन की अहमियत जानता है । दर्पण बोलता है, मन नहीं बोलेगा ? और फिर दिलीप का मन सौंदर्य के तुलनात्मक मूल्य का आकलन करता रहा है । डॉ० हर्षनाथ तो जड़ है, निरा मूर्ख । सब उसके लिए नहीं होते शायद । कोई होता है, जो आकलन की प्रतिभा रखता है, सौंदर्य की आड़ी-तिरछी रेखाओं की बारीकी को सहज ही परख लेता है; वह एक दिलीप ही होता है शायद ।

रेखा विश्वास नासमझ नहीं है, मगर रहस्य से अपरिचित है ।

यह जो खोपड़ी है । सामने...

हाँ, इस कपोल को भी किसी ने प्यार से दुलराया होगा । किसी ने इस पर ललचायी अँगुलियाँ फेरी होंगी । आँखों के ये जो गड्ढे हैं—वहाँ किसी दिन दृष्टि रही होगी, उस दृष्टि में रही होगी मानव की प्यास—अनंत तृषा—जीवन के नये अनुभवों के लिए ।

इस खोपड़ी में किसी दिन मस्तिष्क रहा होगा, जिसमें आई होगी कितनी भावनाएँ, कितनी कल्पनाएँ, जिसे कितने सपनों ने बेचैन किया होगा ।...आज क्या है ? कुरूपता का पुंजीभूत आकार ।

मुझे डर लग रहा है । यह चर्म का आवरण कितना क्षणस्थायी है । निशा सोंधी भी शायद ऐसी ही है । कल, बस, कल; और कल के बाद क्या होगा ? दूर भविष्य में शरीर-विज्ञान का कोई विद्यार्थी इस पर हाथ फेर कर कहेगा—कम्बख़्त बला है ! फिर, आज जिससे चाह पैदा होती है, कल उसी से गुस्सा पैदा हो ।

हाँ याद आ रहा है । निधा ने कहा था—“तुम मूर्ख हो ।”

संख्या का निर्णय

मैं मूर्ख हूँ ? मैं चमड़े के रस से कुछ अधिक चाहता हूँ तो, मूर्ख हूँ ! क्षप के आगे कदम रखना मूर्खता है ! निशा जीवन के तल को क्यों नहीं छूती ? चमड़े का आकर्षण मानना अनिवार्य है, वह सत्य है, मगर वही तो सत्य नहीं है। शायद सीमाओं का अपना उद्देश्य है, उनकी अपनी सार्थकता है। किन्तु सीमा तो अन्त नहीं है। वह केवल सीमा है, जिसके भीतर भी कुछ है, बाहर भी। निशा बाहर नहीं भाँकती, नहीं भाँकना चाहती, भाँकेगी भी नहीं। वह संकोच को प्यार करती है।

मुझे प्यार नहीं करती। और मैं।

कह दूँगा, निशा से जरूर कह दूँगा, दिलीप रस लेकर छोड़ देगा। मुझे रस ही नहीं, रस का उत्स भी चाहिये। निशा उस उत्स का उत्सर्ग क्यों करे ? वह मात्र हड्डियों में क्यों रहे ?

मैंने एक दिन निशा से कहा था—हवास के क्षप को सोचती हो, इसीलिए भागती हो, जहाँ-तहाँ आवास ढूँढ़ती फिरती हो, हवास के क्षप की भावी पीड़ा को वर्तमान के आवेशपूर्ण क्षपों से चला देना चाहती हो। गलेगा, गल जायगा, जरूर गल जायगा। मगर तब हवास का क्षप कितनी दूर होगा ? भूल जाओ, इसीलिए हवास के भावी क्षप को भूल जाओ। मैं विज्ञान का विद्यार्थी हूँ। मेरे लिए हवास कोई मानी नहीं रखता। कुछ नया आ जाता है, हवास का शून्य भर जाता है, बस, इसीलिए अतीत का मोहक आकर्षण मेरे वर्तमान में अभाव बनकर नहीं आता। और देखो, तुम ही तो नहीं हो। तुम में मैं भी तो होऊँगा। मैं—तुम। हम दोनों हवास के क्षप के पहले सृजन की पीड़ा में खो जाएँगे। मगर निशा को सृजन की पीड़ा आतंक्ति करती है। सृजन हवास की गति की ओर संकेत कर उठता है। निशा सोचती है, फिर भाग जाती है।

दिलीप के पास जैसे उसे आश्वासन मिल जाता है। मगर दिलीप निशा को प्यार नहीं करता। वह निशा के चित्रों से प्यार करता है—

ओ मत्स्यगंधा !

उसके मांसल शरीर की उत्तेजक रेखाओं से उसे प्यार है। वह इस प्यार को कला कहता है। सच, कला कितनी बारीक है। कला—इस खोपड़ी की कला, जो मेरे सामने पड़ी है और जिससे मुझे डर लग रहा है।

हे भगवान्, निशा को उसके चित्र मार डालेंगे।

निशा के चित्र। चर्म का आवरण। आवरण में छिपा हुआ कंकाल। निशा मर जाएगी। दिलीप भी मर जाएगा। बस, खोपड़ी रह जाएगी। खोपड़ी से भय मालूम होगा। तब, खोपड़ी भी नहीं रहेगी। केवल भय रह जाएगा।

उफ़। निशा कितनी डरावनी है।

निशा ने कहा था—जीवन क्या है ? कौन जाने। किसी ने जाना है ? तब हम ही क्यों जानें ? दो दिन का जीवन है अपना, उसकी आकांक्षाएँ हैं। उन्हीं में हम रहें। इधर-उधर क्यों भटकें ? उन्हें तृप्त करें, तृप्त हो लें। आगे-पीछे से क्या लेना-देना है भला ?

दोनों पर अपना कोई वश है ? अतीत हमारे रोके रुकेगा नहीं, भविष्य हमारे चलाए चलेगा नहीं। तब, वर्तमान को क्यों खो दें ?

नहीं, वर्तमान को नहीं खोएँगे। वर्तमान में जितना रस है, निचोड़ लेंगे। एक-एक बिन्दु का उपयोग करेंगे, एक-एक क्षण का भोग करेंगे।

निशा सुन्दर है। सुन्दर से कुछ ज्यादा ही है। उसे चाहे बिना नहीं रहा जा सकता। उसके एक-एक अंग में मधु है।

मधु मुझे अच्छा लगता है। और निशा का मधु।

रेखा भी सुन्दर है। उसके भी एक-एक अंग में मधु है।

डॉ० हर्षनाथ पागल है। वह कुछ नहीं समझता। सौंदर्य में भीग

जाने की शक्ति उसमें नहीं है। वह हमेशा ऊपर-ऊपर ही तैरता है। कितनी देर तैरेगा ? एक दिन डूब जायगा।

डा० हर्षनाथ डूब जायगा ? नहीं, नहीं डूबेगा। नहीं डूब सकता। डूबने की शक्ति ही उसमें नहीं है। लेकिन... वह निशा को प्यार करता है। निशा के एक एक अंग में मधु है। डा० हर्षनाथ को मधु अच्छा नहीं लगता। उसे मधु का उत्स प्यारा है। वह मधु के स्रष्टा की ओर भागेगा। वैज्ञानिक होकर रहस्य की ओर। बस, हर्षनाथ को रहस्य प्रिय है, क्योंकि वह उसकी व्याख्या कर सकता है।

निशा को रेखाओं में पिरो दूँ ?

निशा रेखा की परिधि में नहीं आयेगी। मगर रेखा में भी तो मधु है। और मधु मुझे कितना अच्छा लगता है।

रेखा ने एक दिन कहा था—तुम मुझे अच्छे लगते हो—बेहद। तुममें लय हो जाने को जी चाहता है।

लय अच्छी चीज है और रेखा में लय। कला इसीलिए अमर है। किन्तु लय यदि विलयन है तो ठीक नहीं। अलगाव अच्छा है। आकर्षण न रहा, तो सम्बन्ध नीरस हो जायगा। और रेखा के उस कथन में प्यार अभिव्यक्ति पा गया है। नहीं, यह ठीक नहीं। प्यार का अभिव्यक्त हो जाना, व्यक्तित्व के आरोह-अवरोह का अस्त हो जाना।

निशा का प्यार अभिव्यक्त नहीं होता। रस आस्वाद्य है, अभिव्यक्ति उसका धर्म नहीं। आस्वादन की अभिव्यक्ति कैसी ? निशा सुन्दर है। बेहद सुन्दर है। उसके एक-एक अंग में मधु है। मधु आस्वाद्य है। आस्वादन अभिव्यक्ति नहीं माँगता। डा० हर्षनाथ मित्र न होता तो एलान कर देता—बुद्धू है।

डा० हर्षनाथ ने कहा—“सालगिरह मुबारक हो, रेखा जी।”

दिलीप ने कहा—“आपके जीवन का मधु अक्षय हो।”

ओ मत्स्यगंधा !

निशा ने कहा—“आप खुश रहें। जीवन में कभी पराजित न हों।”

रेखा ने कहा—“धन्यवाद।”

चाय की चुस्की लेते हुए डा० हर्षनाथ ने छेड़ दिया—“आप निर्णय कर डालिये अब।”

रेखा ने सवाल किया—“काहे का ?”

डा० हर्षनाथ ने तटस्थ स्वर में कहा—“व्याह का।”

दिलीप ने निशा की ओर देखा, निशा ने डा० हर्षनाथ की ओर। रेखा को कोई जवाब न सूझ पड़ा।

डा० हर्षनाथ ने तीर छोड़ा—“भविष्य का निर्णय बड़ा कठोर होता है।”

रेखा ने टाल दिया।

निशा ने उठायी—“कौन निर्णय करेगा ?”

डा० हर्षनाथ ने कहा—“दिलीप साहब।”

दिलीप ने जैसे कठोर होकर कहा—“मैं ? क्यों ? और आप ?”

डा० हर्षनाथ ने कहा—“मैं तटस्थ हूँ। वैज्ञानिक हूँ न, जानता हूँ कि संख्या मधु के स्वाद की निर्णायक होती है।”

निशा ने भौंहों के बल सवाल किया—“संख्या ?”

डा० हर्षनाथ ने जवाब दिया—“जी हाँ। काल।”

दिलीप ने एक-एक शब्द को तौलते हुए कहा—“काल संख्या से नहीं बँधेगा।”

डा० हर्षनाथ ने कहा—“अतीत बँध गया है।”

दिलीप ने टोका—“निर्णय वर्तमान को करना है।”

डा० हर्षनाथ ने मुस्कराते हुए कहा—“जी हाँ।” और तीखी निगाह रेखा की ओर फेंकी।

संख्या का निर्णय

रेखा ने विषय बदल दिया । इधर-उधर के मसलों पर अनचाहे भटकते रहे । फिर धीरे-धीरे लोग विदा लेने लगे । पहले निशा, फिर दिलीप और अन्त में डॉ० हर्षनाथ ।

द्वार पर आकर डॉ० हर्षनाथ ने कहा—“देखिए, असल बात तो मैं भूल ही गया । आपके लिए एक बड़ा बढ़िया उपहार लाया हूँ । कार में रक्खा है । किसी आदमी से मँगवा लीजिये ।”

रेखा ने मुस्करा कर उपहार के लिये कृतज्ञता शापित की और बेयरा को हाँक लगाई ।

डॉ० हर्षनाथ चले गये ।

बेयरा एक छोटा-सा बक्स लाकर कमरे में रख गया । रेखा ने बड़ी उत्सुकता के साथ उसे खोला और भय से चीख उठी । उसमें चार खोपड़ियाँ पड़ी थीं । चारों पर एक-एक “लेबिल” लगा था ।

रेखा ने साहस समेट कर खोपड़ियाँ निकालीं और पंक्तियों पर नजर डाली ।

खोपड़ी नं० १ :

नाम—ममता घोषाल । उम्र—तीस । विशेष—अपना ही मधु विष हो गया ।

अविवाहित । मौत का कारण—मिर्गी ।

खोपड़ी नं० २ :

नाम—अमर वर्मा । उम्र—छत्तीस । विशेष—रस की विभिन्नता की खोज में भटकते-भटकते नीरस हो गया । अविवाहित । मौत का कारण—क्षय ।

खोपड़ी नं० ३ :

नाम—शेखर कपूर । उम्र—चालीस । विशेष—आत्मा और आभ्यात्मि-

ओ मत्स्यगंधा !

कृता में विश्वास का रोग । रस की आवेशपूर्ण चाह सँजो कर भी रस के संपूर्ण आस्वादन की ओर से तटस्थ । जब शत हुआ, रस के पात्र के प्रति भय । अविवाहित । मौत का कारण—आत्महत्या ।

रेखा ने काँपते हाथों से चौथी खोपड़ी उठाई, मगर पढ़ने का साहस नहीं हुआ । आँखें मूँदे बैठी रही । फिर एकाएक झटके के साथ उठी और टेलीफोन के पास जा खड़ी हुई ।

संजय उर्फ जॉनसन की ट्रेजेडी

[.....संजय के मुख पर तो जैसे कालिख पुत गई थी। मुझे यह अच्छा नहीं लग रहा था। मैंने टोकते हुए कहा—“संजय को दोष देते हो तुम लोग। क्यों! इसमें बेचारे का क्या दोष? ये ऍंग्लोइंडियन झोकरियाँ, उफ़! इनके बारे में कोई भी सही बात गलत साबित हो जा सकती है।”.....]

रोज़ी की खूबसूरती निहायत अपने किस्म की है, यह मैं तब मानने को मजबूर हो गया जब एक रात जॉनसन के साथ मुझे रोज़ी के घर जाने का मौका हाथ लगा। यकीनन, मानना पड़ता है, रोज़ी खूबसूरत है और वह भी निहायत अपने किस्म की। जॉनसन से मेरी दोस्ती के इन सात वर्षों में यह पहला अवसर था, जब कि उसने किसी लड़की के बारे में कुछ कहा हो और वह सच साबित हो गया हो। इसी से रोज़ी से मिलने पर जो सबसे पहली प्रतिक्रिया मुझ में हुई वह यह कि जॉनसन एक बड़ा प्यारा-सा दोस्त है और चाहे वह अक्सर भूठ ही क्यों न बोलता हो, कभी-कभी उसकी बातों पर विश्वास किया जा सकता है। पर, जाने क्यों, रोज़ी खूबसूरत होने के बावजूद मुझे अपनी-सी नहीं लगी। जितनी देर मैं रोज़ी के पास बैठा उससे तरह-तरह के मसलों पर बातें करता रहा, सोचता रहा कि यह रोज़ी घर सजाने के लिए एक खूबसूरत-सा गुलदस्ता हो सकती है, पार्टियों और यार-दोस्तों की रंगीन महफिलों में शान और शौकत में इजाफा करने के लिए पेश किये जाने लायक एक नायाब तोहफा हो सकती

आत्मतयगंधा !

है, नदी के किनारे-किनारे फैली रेत में दौड़ते हुए थककर थकान को जाहिर न करते हुए ठहर जाने का एक लाजवाब रूमानी बहाना हो सकती है, अकेले बैठकर दिन में चुपचाप देखे जाने योग्य एक असंभव सपना हो सकती है, मगर बीबी नहीं हो सकती ।

इसीलिए, लौटते वक्त रोज़ी के बारे में तरह-तरह की अजीबो-गरीब बातें सुनाते हुए जब जॉनसन ने बताया कि अगले महीने वे 'इंगेज' हो रहे हैं, तो सहसा उसकी बात पर विश्वास नहीं हुआ, और जी में आया कि उससे खुलकर साफ-साफ कह दूँ कि वह यह भूठ बोलने की आदत छोड़ दे, मगर यह सोचकर कि इससे कमजोर जॉनसन का भावुक दिल टूट जा सकता है या उसे यकायक घबराहट की बीमारी हो जा सकती है, गम खा गया ।

जॉनसन मुझे घर पर छोड़कर खुशी से दमकता हुआ वापस चला गया और मैं अपने ड्राइंग-रूम में बैठा-बैठा घंटों जॉनसन की किस्मत पर तरस खाता रहा । यह तो भला हुआ कि मेरी बीबी ने मुझे वैसी अवस्था में देखते ही रोषभरे शब्दों में बिना लाए-पिए ही सो जाने की घोषणा कर दी, वरना सारी रात अभागे जॉनसन की ट्रेजेडी पर सोचते-सोचते, दुखित होते ही बीत जाती ।

दूसरे दिन दफ्तर से लौट आकर मैंने जब यार-दोस्तों के बीच इस दुर्घटना की चर्चा करते हुए चिन्ता प्रकट की और जब हममें से मुश्किलों का चुटकियाँ बजाते सर्वाधिक आसान हल ढूँढ़ निकालने वाले संजय तक ने यह कहते हुए 'मामला बेहद पेचीदा है', अपनी असमर्थता जाहिर कर दी तो हम दोस्तों के हँसी-कहकहों पर यकायक मातम छा गया ।

एक मिनट में सात लाजवाब 'विट' सुनाने वाले मदन पाल ने भराए हुए स्वर में पूछा—“अब क्या होगा ?”

संजय उर्फ जॉनसन की ट्रेजेडी

जिन्दगी को ठहाकों से मापने वाले इमदाद ने गंभीर होकर सवाल किया—“कहीं जॉनसन भूठ तो नहीं बोल रहा है ?”

मुझसे इस प्रश्न के उत्तर में आश्वस्त होकर टेकनिकल दिमागवाले गोपाल श्रीवास्तव ने कहा—“होपलेस ।”

संजय ने सिर खुजलाते हुए सख्त अफसोस के स्वर में कहा—“पुअर जॉनसन ।”

मदन पाल ने आवेश में आकर रोज़ी का नाम लेकर गाली देते हुए कहा—“डाकिनी ।”

इमदाद ने आसमान की ओर देखते हुए कहा—“ओ खुदा ।”

और दोस्तों की यह जमात यकायक बेहद गमगीन हो गई ।

थोड़ी देर बाद खामोशी को तोड़ते हुए इमदाद ने कहा—“इस गम के बोझ से उबरने का एक ही रास्ता है । चलो, सब-के-सब नदी के किनारे की वीरान रेत पर लेटे-लेटे मासूम लहरों की धड़कनें सुनें, वरना हम जॉनसन की बदकिस्मती को लेकर सोचते-सोचते पागल हो जाएँगे ।”

हमें इमदाद का यह सुभाव बेहद पसंद आया, मगर सवाल यह था कि जॉनसन के यहाँ आ पहुँचने का वक्त हो गया था और आज किसी भी हालत में जॉनसन को छोड़कर कहीं भी जाया नहीं जा सकता था । संजय ने बदले में सुभाव पेश किया कि हम जहाँ बैठे हैं, वह मदन पाल के घर का छोटा-सा बरामदा है और चूँकि मदन पाल ने कुल छः महीने पहले शादी की है और बंगालिन औरतें विवाह के साल भर बाद तक बेहद बढ़िया चाय बनाती हैं, मदन पाल को चाहिए कि वह हमारे लिए चाय की व्यवस्था करे, क्योंकि गम को हल्का करने के लिए चाय से अधिक अच्छी चीज़ का मिलना इस दुनियाँ में नामुमकिन है ।

सबने सहर्ष संजय के इस सुभाव का समर्थन किया और गोपाल श्रीवास्तव तो संजय के इस व्युत्पन्नमतित्व से इतना प्रभावित हुआ कि

ओ मत्स्यगंधा !

इमदाद की बगल से उठ आकर संजय की बगल में बैठ गया और प्रशंसा की दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए प्यार से उसकी पीठ थपथपाने लगा ।

कोई आधा घंटा प्रतीक्षा करने के बाद चाय आयी और यकीनन बेहद अच्छी आयी । इमदाद ने पहला घूँट गले के नीचे उतारते ही मदन पाल की ओर देखते हुए कहा—“खुदा तेरी बीबी को बरकत दे ।” और सबने आँखों-ही-आँखों इमदाद के इस आशीर्वादात्मक वाक्य का समर्थन किया ।

हम चुपचाप चाय की चुस्कियाँ लिए जा रहे थे कि गोपाल श्रीवास्तव ने कहा—“हमें कुछ-न-कुछ तो करना ही चाहिए ।”

मैंने धीरे से भारी बोझिल स्वर में कहा—“मगर अब इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं किया जा सकता ।”

मदन पाल इस प्रसंग में कुछ कहने ही जा रहा था, मगर यकायक दूर से आती हुई परिचित पगध्वनि को लक्ष्य करते हुए हमें सावधान करने के ख्याल से बोला—“हश । चुप । ही इज्ज कर्मिग ।”

हम यकायक खामोश हो गए । सबने भेदभरी निगाह एक-दूसरे के चेहरे पर डाली और जॉनसन की ट्रेजेडी को सह लेने के लिए प्रस्तुत हो गए ।

जॉनसन ने आते ही मदन पाल की पीठ पर घौल जमाते हुए कहा—“एक कप मेरे लिए भी ।” और आकर मेरी बगल में बैठ गया ।

मदन पाल अन्दर चला गया । इमदाद ने परेशान निगाहों से जॉनसन को देखते हुए सवाल किया—“हाउ डू यू डू ?”

जॉनसन ने मुस्कराते हुए कहा—“ओके पार्टनर ।” और चारों ओर नजर दौड़ाकर आश्चर्यचकित स्वर में प्रश्न किया—“आज रमी नहीं जमेगी क्या ?”

“नहीं”—संजय ने खाली प्याला एक ओर सरकाते हुए कहा—“आज रमी नहीं जमेगी । बातें करेंगे ।”

संजय उर्फ जॉनसन की ट्रेजेडी

जॉनसन ने ठहाका लगाया। बोला—“बातें ? वंडरफुल। करो।”

मगर जब आधे घंटे तक भयानक खामोशी छाी रही और जॉनसन का प्याला भी चुक गया तो वह सबको फटी-फटी आँखों से देखता हुआ उठ खड़ा हुआ और गोपाल श्रीवास्तव के सिर के बालों को पकड़कर भँभोरते हुए बोला—“व्हाट हैज़ हैपन्ड टू यू स्वाइन्स ? यू आर आल टू डल टुडे। आई ऐम गोइंग।”

इमदाद ने निगाह ऊपर उठाी। आहिस्ता से सवाल किया—“यू आर गोइंग टू रोजी, इजेंट इट ?”

जॉनसन ने इमदाद के इस सवाल का जवाब नहीं दिया। मुस्करा कर मेरी ओर देखते हुए कहा—“स्वाइन।” और चला गया।

जॉनसन के यकायक इस तरह चले जाने के आवेश में आकर गोपाल श्रीवास्तव रोजी को एक भद्दी-सी गाली देता हुआ उठ खड़ा हुआ और बोला—“चलो।” सब-कै-सब उठकर चल दिए।

दिन गुजरते देर न लगी। हमारे तहेदिल से न चाहने पर भी अगले महीने वह तारीख भी आ गई, जिस दिन रोजी के साथ जॉनसन का इंगेजमेंट-संस्कार सम्पन्न होने को था। जॉनसन ने दो दिन पहले से ही छुट्टी ले रखी थी। तैयारियों में जुटा था। उस दिन सबेरे-सबेरे आकर हम सबको निमंत्रित कर गया। जाना ही पड़ा। गए और हम सबने अपनी नम आँखों से जॉनसन के दुर्भाग्य का शीर्षक लिखा जाते देखा और अपनी किंकर्तव्यविमूढ़ता पर पछता-पछता कर रह गए।

और एक दिन, इस घटना के कोई साल भर बाद जॉनसन ने आकर हमारे बीच अपने विवाह की तारीख की घोषणा करते हुए आग्रह-पूर्वक विवाह के उपलक्ष में दी जानेवाली दावत में शरीक होने का

ओ मत्स्यगंधा !

निमंत्रण-पत्र प्रस्तुत कर दिया। हम ठगे-से रह गये। हममें से किसी ने भी सपने में भी यह नहीं सोचा था कि यह दिन इतना जल्द आ जायगा। मगर वह हुआ, जो खुदा को मंजूर था। जॉनसन का विवाह हो गया और हम दावत में भी शरीक हुए। जॉनसन ने दफ्तर से एक महीने की छुट्टी ले ली और हनीमून मनाने के लिए दार्जिलिंग चला गया।

जाने से एक दिन पहले वह हमसे शुभकामनाएँ एकत्र करने आया था और तुरन्त ही चला गया था। उसके चले जाने के बाद उसे और रोज़ी को केन्द्र बनाकर हमारी बातचीत चक्कर काटती रही थी। इमदाद ने बड़े ही दुखी स्वर में कहा था—“क़सम खुदा की, देख लेना, दार्जिलिंग से रोता हुआ वापस आयेगा।”

गोपाल श्रीवास्तव ने इमदाद से सहमत होते हुए कहा था—“रोएगा नहीं तो क्या? देख लेना, रोना तो पड़ेगा ही।” और फिर जैसे भीतर-ही-भीतर आत्मविश्वास से भर आया हो, कहा था—“ये एंग्लोइंडियन लड़कियाँ किसी की हुई हैं कि जॉनसन की होंगी?”

मदन पाल ने टूटते हुए स्वर को सँभालकर भेदभरी नजरों से गोपाल श्रीवास्तव की ओर देखते हुए कहा—“रोज़ी ख़ूबसूरत भी है और ख़ूबसूरत छोकरियों का भरोसा क्या?”

संजय जो चुपचाप सिर झुकाए बैठा ये बातें सुन रहा था, आवेश में आकर उठ खड़ा हुआ था। बड़ी बेचैनी के साथ वह कोई पाँच-सात मिनटों तक बरामदे पर चहल-कदमी करता रहा था, फिर जैसे कोई दूर की बात सूझी हो, चहलकदमी करते-करते रुक कर बोला था—“रोज़ी ख़ूबसूरत है, एंग्लोइंडियन है, पढ़ी-लिखी है, अमीर बाप की सारी सम्पत्ति की एक मात्र उत्तराधिकारिणी है और जॉनसन ! छिः। तीन-सौ रुपए माहवार पर काम करने वाला एक छोटे से फ़र्म का असिस्टेंट मैनेजर। हुँह, मैं कहता हूँ, तलाक़ होगा, देख लेना, तलाक़ होकर रहेगा।”

संजय उर्फ जॉनसन की ट्रेजेडी

मैंने सब से सहमत होते हुए, भरीए गले से, जॉनसन के लिए मन-ही-मन दुःखित होते हुए कहा—“मैंने भरसक जॉनसन को समझाया तो था, मगर खुदा की मर्जी ।”...

मैं अपनी बात समाप्त भी न कर पाया था कि हम पर इस तरह मातम छा गया था कि एक पल भी वहाँ बैठना नामुमकिन हो गया था । हम सब खामोश, थके, दुखे सिनेमा देखने चले गये थे और रमी खेलने के लिए बाँटी गई ताश बाहर टेबल पर ही पड़ी रह गई थी ।

जॉनसन को गए हुए कोई पंद्रह दिन हो गए थे और पहुँच कर रोज एक रुमानी खत डालने का वादा करने के बावजूद इस बीच उसने हमारे पास एक भी खत नहीं भेजा था । उसके इस तरह मौन साध लेने के कारण हमारी चिंताएँ और आशंकाएँ और भी बढ़ गई थीं । हम तरह-तरह की दुर्घटनाओं की कल्पना करने लग गए थे ।

एक दिन जॉनसन का कोई पत्र न आने का समाचार पाकर संजय ने आते ही दोस्तों की जमात में घोषणा कर दी—“मैं कहता हूँ, देख लेना, जॉनसन अकेला वापस आएगा । ऐसे विवाह ज्यादा-से-ज्यादा तेइस दिन टिकते हैं ।”

मैंने आश्चर्य से संजय की ओर देखते हुए कहा—“तेइस दिन ? तुम जरूरत से ज्यादा निश्चयात्मक मालूम होते हो । आखिर इसका आधार क्या है ?”

संजय आवेश में था । मेरी ओर इस तरह देखते हुए गोया मैं एक भोला-भाला अनुभवहीन शिशु होऊँ, हँसते हुए बोला—“आधार पूछते हो ? एक हो तो गिनाऊँ । म्याँ, अनुभव है इसका आधार, अनुभव । मजाक नहीं है, हाँ ।”

संजय के स्वर में कुछ ऐसा आत्मविश्वास था कि हमें मान लेना पड़ा वह ठीक कहता है । गोपाल श्रीवास्तव ने संजय से सलाह-मशविरा करके

ओ मत्स्यगंधा !

हमें सूचित किया कि चूँकि ऐसे विवाह तेइस दिन से अधिक नहीं टिकते, आज से दसवें दिन जॉनसन दार्जिलिंग से जरूर वापस आ जाएगा। क्योंकि इस पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं था, हम जॉनसन के दार्जिलिंग से लौट आने की प्रतीक्षा करने लगे।

गोपाल श्रीवास्तव की गणना के अनुसार दसवें दिन हम सब मदन पाल के बरामदे पर और दिनों से कुछ पहले ही आकर जुट गये और प्रतीक्षा की बेचैनी को हल्का करने के लिए रमी खेलनी शुरू कर दी।

कई घंटे गुजर गए। मदन पाल की बीवी ने नौकर से कहला भिजवाया कि रात के नव बज गए और खाना खाने का वक्त हो गया। मगर जॉनसन अभी तक नहीं आया। हमने पहली बार अविश्वास की दृष्टि संजय के मुख पर डाली।

इमदाद ने बेहद थके हुए स्वर में उठते हुए कहा—“चलो, हमें मदन पाल की बीवी से गाली नहीं सुननी है। जॉनसन नहीं आयेगा।”

इमदाद ने कह कर संजय की ओर ऐसी निगाह से देखा, मानो कहना चाह रहा हो—“भूटा कहीं का।”

संजय भी उठ खड़ा हुआ। पर जाने क्यों मुझे यह सब अच्छा नहीं लग रहा था।

मैंने बैठे-ही-बैठे कहा—“अक्सर जॉनसन देर से आया करता था।”

शायद मेरी बात का किसी पर कोई असर नहीं हुआ। गोपाल श्रीवास्तव भी उठ खड़ा हुआ। मुझे भी उठना पड़ा। मगर मैं अभी उठ ही रहा था कि दूर से परिचित पगध्वनि सुनायी पड़ी। अचानक संजय के मुँह से निकला—“जॉनसन।”—और हम सब चुपचाप अपनी-अपनी जगह पर बैठ गए।

जॉनसन भारी कदमों से चलता हुआ आया और चुपचाप धीरे से हाथ हिलाकर नमस्कार करते हुए मेरी बगल में बैठ गया। संजय ने एक बार

संजय उर्फ जॉनसन की ट्रेजेडी

गर्व से सबकी ओर देखा और मैंने गौर किया, सबके मुख पर संजय के प्रति प्रशंसा का भाव था ।

जॉनसन अप्रत्याशित रूप से चुप, गंभीर, आँखें झुकाए बैठा था । इमदाद ने छत की ओर देखते हुए भारी आवाज़ में सवाल किया—“कब आये ?”

“परसों”—जॉनसन ने वैसे ही गंभीर बने हुए जवाब दिया । यानी तेइसवें दिन ।

संजय ने एक बार फिर हम लोगों की ओर गर्व से देखा ।

“रोज़ी भी आई है ?”—गोपाल श्रीवास्तव ने संजय की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा के प्रभाव में आकर प्रश्न किया ।

“नहीं !”—जॉनसन ने वैसे ही गंभीर स्वर में कहा । संजय ने एक बार फिर हम लोगों की ओर गर्व से देखा । हममें से किसी में इतना साहस, इतना आत्मविश्वास नहीं था कि संजय से आँखें मिला सके ।

जॉनसन बेहद गंभीर था । उदास-उदास-सा लगता था । गौर से देखने पर उसके कपड़े भी बेतरतीब मालूम हो रहे थे और यह तो साफ दिख रहा था कि उसने बालों में तीन-चार दिनों से तेल नहीं डाला था । महीने भर की छुट्टी लेकर भी संजय की घोषणा को सत्य साबित करते हुए तेइसवें दिन ही वह वापस आ गया था और वह भी अकेले । अब जानने-समझने को बाकी क्या रह गया था ?

जॉनसन जाने के लिए उठ खड़ा हुआ । इमदाद ने सुझाव पेश किया कि चूँकि जॉनसन बहुत दिनों के बाद हमारे बीच आया है, इसलिए यह लाजिम है कि हम उसे उसके घर तक छोड़ आएँ और जॉनसन के लाख नाहीं करने पर भी हम उसे छोड़ने चल पड़े । रास्ते में कोई किसी से कुछ नहीं बोला, गो सबके मन में सवालियों के तूफान उबल रहे थे । मगर इमदाद से आखिर नहीं रहा गया । जॉनसन के घर के अहाते में प्रवेश

ओ मत्स्यगंधा !

करते ही पृष्ठ बैठा—“मगर तुम इस तरह अकेले ही क्यों लौट आए ?
आखिर बात क्या है ?”

जॉनसन ने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया—“मेरी बदकिस्मती ।” और फिर
खामोश हो गया ।

गोपाल श्रीवास्तव ने इमदाद के सवाल से प्रोत्साहित होकर अत्यधिक
अपनपौ के स्वर में कहा—“हमसे कहते क्यों नहीं, जॉनसन ? हम कोई
गैर हैं ? हमेशा हमने तुम्हारे सुख-दुख को अपना सुख-दुख माना है, हमसे
क्या छिपाना ?”

बरामदे की सीढ़ियाँ चढ़ते-चढ़ते एकाएक जॉनसन रुक गया । एक
बार उसने हम लोगों को ध्यान से देखा और अपने को वश में करते-करते
फूट-फूट कर रो पड़ा ।

संजय ने आगे बढ़कर जॉनसन की पीठ पर हाथ रखते हुए हमारी
ओर गौर से देखा और बोला—“यह क्या पागलपन कर रहे हो, जॉनसन ?
मर्द होकर औरतों की तरह रोते हो, छिः । दुख को बहादुरी के साथ सहना
चाहिए ।”

जॉनसन ने जेब से रुमाल निकालकर आँखें पोंछते हुए कहा—“हाँ,
यह तो सहना ही है । अगर मैं जानता कि दार्जिलिंग जाकर यह होगा,
तो सपने में भी मैं दार्जिलिंग जाने की बात नहीं सोचता ।”

मैंने जॉनसन को अत्यधिक महत्वपूर्ण प्यार की दृष्टि से देखते हुए
पूछा—“आखिर हुआ क्या ? तुम्हें इस तरह क्यों चला आना पड़ा ?”

जॉनसन ने तुरन्त ही मेरे सवाल का जवाब नहीं दिया । रुमाल से
एक बार फिर उसने अपनी आँखें पोंछीं और ऊपर आकाश की ओर देखता
रहा । हम उत्तर की प्रतीक्षा में मौन साधे खड़े रहे ।

थोड़ी देर बाद जॉनसन ने धीरे-धीरे कहना शुरू किया—“वह एक
अँधेरी रात थी बिल्कुल वैसी ही; जैसी दुर्भाग्य की रातें होती हैं । मैं अन्दर

लेटा-लेटा एक नॉवेल पढ़ रहा था और रोज़ी बाहर छत पर खड़ी अँघरे में प्रेत-से दीख पड़ने वाले मकानों को देख रही थी। तभी मकान के निचले तले से किसी चीज़ के गिर कर टूटने की आवाज़ उसके कानों में आयी और वह तेज़ी से नीचे की ओर भागी। मगर आधी सीढ़ियाँ तय कर पायी होगी कि उसके पाँव लटपटा गये और वह लुढ़कती हुई नीचे आ गई। आवाज़ सुनकर मैं दौड़कर नीचे गया, तो देखता हूँ, रोज़ी बेहोश पड़ी है। उठा-पठा कर पास के अस्पताल में ले गया। घंटे भर बाद उसे होश आ गया, मगर डाक्टर ने बताया कि उसकी बायीं जाँघ की हड्डी टूट गई है और उसे कम-से-कम दो-ढाई महीने अस्पताल में गुजारने होंगे। सो, वह अस्पताल में अकेली पड़ी है और मुझे रुपयों की व्यवस्था करने तथा एक महीने की और छुट्टी लेने के लिये वापस आना पड़ा है। ओह! तुम लोग कल्पना नहीं कर सकते कि रोज़ी कितनी अच्छी पत्नी है। उसके बगैर एक-एक दिन मुझे पहाड़-सा लगता है। ऐसा लगता है कि मैं.....”

जॉनसन की आँखें फिर छलछला आयीं और गला रूँध आया। हम तरह-तरह से उसे धीरज बँधाते रहे। हम, यकीनन, जॉनसन की ट्रेजेडी से दुखित थे।

कोई ग्यारह बजे जब हम जॉनसन को तरह-तरह से बोध कर लौटे, तो रास्ते में जैसे सबका आक्रोश संजय पर केन्द्रित हो गया था, मगर कोई भी कुछ बोल नहीं रहा था। यकायक, चलते-चलते, आवेश में आकर मदन पाल ने संजय की बाँह पकड़ कर भँभोरते हुए कहा—“बुन्चा! भूठा कहीं का। खाली गप मारता है।”

गोपाल श्रीवास्तव, जो भीतर-ही-भीतर गुस्सा किए जा रहा था, फूट पड़ा—“जानता-वानता है खाक नहीं, और बातें करता है अनुभव की! छिः! मैं तो पहले ही से जानता था कि यह संजय गपोड़ है, हमेशा भूठ बोलता है—खालिस भूठ।”

ओ मत्स्यगंधा !

इमदाद ने कुछ कहा नहीं, मगर चुप रहकर जैसे दोनों के द्वारा संजय पर लगाए गये आक्षेपों का समर्थन किया ।

संजय के मुख पर तो जैसे कालिख पुत गई थी । मुझे यह अच्छा नहीं लग रहा था । मैंने टोकते हुए कहा—“संजय को दोष देते हो तुम लोग । क्यों ? इसमें बेचारे का क्या दोष ? ये एंग्लोइंडियन छोकरियाँ, उफ़ ! इनके बारे में कोई भी सही बात गलत साबित हो जा सकती है ।”

मगर कह कर जब मैंने सोचा तो अपने कथन के व्यंग्य पर स्वयम् मुग्ध हो गया । संजय ने न समझ कर, प्रोत्साहित होकर कुछ कहने के लिए मेरी ओर देखा, मगर मुझे देखते ही समझते हुए हताश होकर चुप रह गया ।



अप्रत्याशित

[.....उन अनुभवों में सदैव कहीं एक रेखा थी, जो राजन और उसके अदृश्य अन्तराल से होकर गुजर जाती थी, उन्हें विच्छिन्न कर देती थी। निकटता के उन क्षणों में आत्मज्ञान तो कभी विस्मृत नहीं हुआ, विभाजक-रेखा तो कभी विसर्जित नहीं हुई। आज का यह अनुभव पूर्व के सारे अनुभवों से भिन्न था। राजन की बाँहों में कसी जाकर—आश्रित-सी अनुभव करती हुई उसकी छाती पर अपना सिर टेक कर, राजन के शरीर की पुरुष-गंध से प्रभावित होकर वह जैसे अपने व्यक्तित्व के सारे प्रसार में अभ्रमय हो गई थी। राजन के शरीर की गंध उसके शरीर में जितनी मादकता भरती जा रही थी, उसके प्रत्येक रोम में एक अप्रत्याशित विरह भरता जा रहा था और इन दो आवेशों के बीच उसे एक अपरिचित-सी विकलता का अनुभव हो रहा था।.....]

अरुंधती की पलकें जब नींद से दुखने लगीं तो उसे बड़ा गुस्सा आया । एक दिन की बात हो तो कोई खुशी-खुशी सह भी ले; वैसी प्रतीक्षा में एक विचित्र रस होता है । यह किस्सा तो रोज का है और गत तीन वर्षों में एक दिन का भी नागा हुआ हो, उसे याद नहीं । कई बार उसने चाहा है कि वह इस प्रतीक्षा करने के उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाए; इस उत्तरदायित्व को उसने ही तो आमंत्रित किया था । किंतु निश्चय करने की स्थिति में आते ही जाने उसे क्या हो जाता है । किसी कोण से वह विवश हो जाती है । सारा आवेश, सारा आक्रोश एक विचित्र प्रकार की मर्मन्तिक पीड़ा में बदल जाता है और उसे लगता है कि अप्रत्याशित रूप से ही जब राजन उसके मन में आया है और उसने उसे वहाँ रह जाने दिया है, तो तमाम उम्र यों ही आधी-आधी रात तक अपनी प्रतीक्षा करा लेने का अधिकार उसे है और यहीं पहुँच कर असंबद्ध होते-होते वह फिर राजन से सम्बद्ध हो जाती है और सम्बद्ध होते ही आधी-आधी रात तक जागने का दुःख, मन-ही-मन पीड़ित होने का दुःख

ओ मत्स्यगंधा !

यकायक सद्य हो जाता है, राजन अच्छा लगने लगता है। तब वह कमरे की गुल की हुई रोशनी फिर जला देती है, राजन को लौट कर जिन चीजों की जरूरत होगी, उन्हें एक जगह एकत्र कर देती है, उसका खाना लाकर अपने कमरे में ढँक कर रख देती है, और फिर जैसे सभी दिशाओं से आश्वस्त होकर राजन की प्रतीक्षा करने लगती है, किए जाती है।

अरुंधती ने उठकर कमरे की रोशनी जलाई। घड़ी पर एक नजर डाली—पौने दो। दो पल यों ही खड़ी-खड़ी कुछ सोचती रही, जैसे कश्मकश में हो, फिर मुड़ी और बाथ-रूम में जाकर नींद से दुखती पलकों को अँगुलियों में ठंडा पानी ले-लेकर बड़ी देर तक सेंका। लौट कर आयी तो भीतर-ही-भीतर कुछ हल्की लगी। अब आगे क्या होगा ? राजन नहीं आया है, सोया नहीं जा सकता; नींद आयेगी ? जाने क्या हुआ कि वह ट्रेसिंग-टेबल के सामने जाकर बैठ गई। बालों को सँवार-सँवार कर देखा; चेहरे पर हल्का-सा पफ् दिया, सूखे होठों पर ग्लिसरीन लगायी, होठों की मुलायम लाली का अनुभव किया और अन्तर्गत के किसी गोपन भाग से उठते हुए आंदोलन के प्रभाव से उठी। ट्रंक से नई धुली सफेद रेशमी साड़ी निकाली, चमकी लगा सफेद रेशमी ब्लाउज निकाला, पहना और फिर दर्पण तक जाकर अपने प्रतिबिम्ब से जुड़ गई। राजन अब कब आयेगा ?

घंटे भर बाद बाहर बरामदे पर पुरुष-चरणों की आवाज सुन पड़ी। अरुंधती ने झटके से उठकर कुंडी खटखटाए जाने के पहले ही दरवाजा खोल दिया। राजन दरवाजे पर अँधेरे में खड़ा था। उसने अपने बेतरतीब बिखरे बालों को एक झटका दिया और एक शब्द भी बोले बिना सिर झुकाए भीतर आ गया। भीतर आकर आहिस्ता से फटे स्वर में बोला—“देर हो गई।”

अरुंधती ने कहा—“नई बात है ? रोज होती है। खाना खा लीजिए।”

राजन ने जैसे नहीं सुना। उसकी बात का जवाब दिए बिना, उस पर एक नजर डाले बिना अपने कमरे में चला गया। अरुंधती विच्छिन्न-सी रह गई। वह चुपचाप थके पाँव अपने कमरे में लौट आयी और अपने पलंग पर अधलेटी बैठकर राजन की प्रतीक्षा करने लगी।

आधे घंटे के बाद राजन आया—पहले से कुछ सहज, कुछ सरल, मगर जैसे उसने अरुंधती को न देखने की प्रतिज्ञा कर ली हो। फर्श की ओर देखते हुए उसने अरुंधती से पूछा—“खाना कहाँ है?”

अरुंधती ने कुछ कहा नहीं। राजन दीवार से लगी कुर्सी पर नजर भुकाए बैठ गया। अरुंधती ने उठ कर खाने की मेज लाकर उसके सामने रख दी, पास ही एक कुर्सी खींच कर बैठ गई और चुपचाप पंखा भलती रही। राजन नजर नीची किए खाता रहा। आखिर अरुंधती बोली—“सुनिए, आप ऐसे क्यों हैं?”

मुँह के पास पहुँचे हुए हाथ को पल भर रोककर राजन ने पूछा—“कैसा हूँ?”

“पाषाण, बिल्कुल पाषाण”—अरुंधती ने कहा—“आप मेरा खयाल न सही, अपना तो खयाल रखा कीजिए।”

राजन ने सुना। मुन कर ठहरा। भीतर से तनिक पिघला भी शायद किन्तु तुरन्त ही पूर्ववत् होकर उसने कहा—“मैं ठीक हूँ।”

अरुंधती को यह संक्षिप्त उत्तर अच्छा नहीं लगा। फिर भी उसने कहा—“ठीक हैं? कैसे ठीक है? मुझे धोका देते हैं आप? आप क्यों करते हैं ऐसा? क्यों इतना पीड़ित करते हैं? क्यों मुझसे इतनी प्रतीक्षा कराते हैं? क्यों.....”

राजन उत्तर में मौन रहा। अँगुलियों से थाली में रेखाएँ रचता-काटता रहा।

अरुंधती ने अपने प्रश्नों को और आगे बढ़ाया—“मेरे समर्पण का

ओ मत्स्यगंधा !

अच्छा मोल किया है आपने । मेरी प्रत्येक आकांक्षा, मेरी प्रत्येक कामना को एक अप्रत्याशित व्यथा से बाँध देने के सिवा और क्या किया है आपने ? बोलिए मुझे सता कर कौन-सा सुख मिलता है आपको ?”

राजन ने अनुभव किया यह प्रश्न उसे तोड़ रहे हैं और इस टूटने की प्रक्रिया में पीड़ा होती है । थाली में ही हाथ धोकर वह एक झटके से उठा और अरंधती के प्रश्नों का उत्तर दिए बिना कमरे की ओर चल पड़ा । अरंधती स्तब्ध, ठगी-सी लुटी-सी, उसे जाते देखती रही । उसने राजन को पुकार कर कुछ कहना चाहा, मगर स्वर कंठ में ही अवरुद्ध होकर रह गए । यकायक जाते-जाते राजन रुका । बिना मुड़े हुए, बिना अरंधती की ओर देखे हुए धीरे से बोला—“अपना समर्पण वापस ले लीजिए, अरुन्धी ।” ओर तेज कदमों से चलकर उसकी आँखों से ओभल हो गया ।

राजन चला गया, अरंधती ने देखा । राजन समर्पण लौटा लेने को कह गया, अरंधती ने सुना । वह आज फिर छली गई । वह चुपचाप बैठी छलछलायी आँखों से उस थाली को देखती रही, जिसमें राजन ने खाना खाया था और खाना खाने के बाद उसके उत्तर के आकांक्षी प्रश्नों को सुनकर रेखाएँ रची-काटी थीं ।

आज से तीन साल पहले एक सहेली के घर राजन से उसका परिचय हुआ था । स्कूल में नई-नई नौकरी उसने शुरू की थी । राजन ने युनिवर्सिटी की एम० ए० की पढ़ाई बीच ही में छोड़ कर जर्नलिज्म के क्षेत्र में नया-नया कदम रखा था । पचहत्तर रुपए की मासिक आय से हौसला पूरा करने का जो दृढ़ संकल्प राजन ने कर रखा था, एक दिन वही उसे उसके और निकट ले आया था । एक छोटी-सी किराए की कोठरी की तलाश में भटकते हुए जाने कैसे वह उसके घर पहुँच गया था और जैसे सब कुछ अनहोना हो रहा हो, बड़े ही सहज भाव से अरंधती

ने उससे अपने ही यहाँ रहने का प्रस्ताव किया था और राजन ने उसके अनगिनत साग्रह निवेदनों के प्रति नकारात्मक उत्तर देकर भी, विवश होकर, कई दिनों के मानसिक संघर्ष के बाद उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था। हर ओर से इसका तीव्र विरोध हुआ था। क्वॉरी अरुंधती के साथ क्वॉरी राजन के एकान्त सहवास की, अधःक्षेप की कहानियाँ प्रचारित की गई थीं। अरुंधती को परिणामस्वरूप नई-नई लगी नौकरी से हाथ धोना पड़ा था। नौकरी के छूट जाने के बाद, कोई छः महीने तक जब तक नई नौकरी नहीं मिल गई, बड़ी पीढ़क स्थितियों से उसे गुजरना पड़ा था, जिन्हें राजन की इस प्रकृतिगत विमृश्लता ने और भी असहनीय बना दिया था और अरुंधती की आँखों के आगे थाली में राजन की अँगुलियों से रन्नी-काटी गई रेखाओं के अन्तर्गत उन दिनों की सैकड़ों घटनाएँ, सैकड़ों चित्र उभर आए। उसने आँचल के खूँट से आँखों को पोंछा और बत्ती गुल करने के लिए उठ खड़ी हुई। बड़े बोझिल कदमों से चल कर वह स्विच-बोर्ड तक गई और स्विच-बोर्ड की अग्रजिहा पर अँगुली धरे एक बार बड़े चाव से पूरे कमरे को देखा, जैसे कि राजन के चले जाने के बाद उसकी परछाई के कमरे में ही छूट जाने का उसे विश्वास हो। सहसा उसकी दृष्टि कुर्सी की बाँह पर छूट गए सिगरेट के ढब्बे पर पड़ी, जिसे राजन वहीं छोड़ कर चला गया था। वह राजन की कमजोरी जानती है। विशेष कर वह इस वक्त, खाना खाने के बाद, जब वह लिखने बैठता है और घंटों जाने क्या लिखता रहता है, सिगरेट जलती है और जब तक वह लिखता रहता है, जलती रहती है। कितनी बार इसी बात को लेकर उसके और राजन के बीच कहा-सुनी हो गई है, कितनी बार वह राजन से रूठ गई है, कितनी बार राजन उससे रूठ गया है।

अरुंधती की भीगी आँखों के आगे राजन की बेचैन अँगुलियाँ,

ओ मत्स्यगंधा !

बेचैन हॉट काँप उठे और राजन के प्रति उसने एक अबूझ विवशता का अनुभव किया। सिगरेट का डब्बा लेकर जब वह राजन के कमरे की ओर चलने को हुई, आहत प्यार ने उसे टोका। हाँ सच, राजन उसका कौन है ? क्यों वह उसके लिए यह सब करेगी ? उसके प्यार, उसके समर्पण के बदले में राजन क्या देता है उसे, क्या देगा ? उसे झटका-सा लगा। भीतर-ही-भीतर वह छुटपटा उठी। रुकी रही कि नहीं जायगी। दरवाजे से लौटी कि नहीं जायगी। मगर दो क्षण बाद जब भीतर से कुछ दृढ़ हुई, उसने सिगरेट का डब्बा उठाया और राजन के कमरे की ओर चल पड़ी।

राजन के कमरे का दरवाजा खुला था, मगर रोशनी गुल थी। बाहर से ही अरुंधती ने भाँप लिया कि रोशनी को गुल करने के बाद भी राजन सोया नहीं है, टेबल पर हथेलियों में सिर धरे चारपाई के उस ओर पड़ी कुर्सी पर बैठा है। अरुंधती ने अनुभव किया कि अगर वह इसी तरह खड़ी-खड़ी अँधेरे में एकान्त चुप बैठे राजन को देखती रहेगी, उसके बारे में सोचती रहेगी तो शिथिल पड़ जायगी। उसने एक झटके से कमरे में प्रवेश कर रोशनी जला दी। राजन ने अनुभव किया, बस, और वैसे-का-वैसा ही बैठा रहा।

अरुंधती ने सिगरेट का डब्बा आगे बढ़कर टेबल पर रखते हुए कहा—“लीजिए।”—और आगे कुछ कहने जाकर यकायक अपने को रिक्त अनुभव करती हुई चुप हो गई।

राजन ने कहा—“खाली है।”—और चुप हो गया।

अरुंधती खड़ी-खड़ी सोचती रही। नहीं आज वह ऐसे ही लौट जाने के लिए नहीं आयी है। किन्तु गोपन से उमड़ते शब्दों को जाने क्या हो गया था। बड़ी देर बाद बड़े परिश्रम से स्वयम् को किंचित् कठोर बनाते हुए अरुंधती ने कहा—“मैं आपके लिए बदनाम हुई.....।”

राजन ने सुना, जैसे नहीं सुन रहा हो। अरुंधती ने आगे कहा—
“मैंने आपके लिए अपना निजी अस्तित्व, निजी व्यक्तित्व खोया.....।”

राजन तनिक हिला। उसके बाएँ हाथ की अँगुलियाँ सिर के बालों से उलझ गईं।

अरुंधती ने दूटे हुए स्वर में कहा—“आपने कहा था कि अपना समर्पण लौटा लीजिए, तो लौटा दीजिए मेरा समर्पण। मैं आपके बिना भी रह सकती हूँ, जरूर रह सकती हूँ।”.....

अरुंधती के स्वर में जो दूटती हुई दृढ़ता थी, एक अपरिचित रुआँसापन था, उससे प्रभावित होकर राजन ने दूसरी ओर देखते हुए अपने सिर के बालों को एक झटका दिया और बोला—“ठीक है। बत्ती गुल कर दीजिए। मैं कल चला जाऊँगा।

अरुंधती ने सुना। ठगी-सी राजन को देखती रह गई। यह कैसा विचित्र जीव है कि इसके पास आकर उत्तुंग अभिमान भी निरर्थक होकर धराशायी हो जाता है। उसने मुश्किल से टपक पड़ने को आतुर आँसुओं को रोकते हुए कहा—“अच्छा।” और मुड़ी कि चली जायगी।

स्विच-बोर्ड के पास पहुँच कर वह रोशनी गुल करने ही वाली थी कि राजन ने पुकारा—“सुनिए !”

अरुंधती खड़ी-की-खड़ी रह गई। राजन ने फिर पुकारा। उसने सुना, लेकिन वह नहीं सुनेगी। कुर्सी खिसकने की आवाज हुई और वह राजन को अपने निकट आते हुए अनुभव कर ही रही थी कि राजन ने कंधा पकड़ कर उसे अपनी ओर घुमा लिया। अरुंधती ने इस गत्यावेश को अवरोध देने का प्रयास किया, किन्तु न दे सकी। घबरा कर उसने आँखें मूँद लीं और आँखों के कोनों में तैरते अभ्र कपोलों पर आ गये।

राजन ने इस अरुंधती को गौर से देखा। इसका धैर्य दूट गया क्या ? वह एकटक उसे देखता रहा। आधी रात को किया हुआ शृङ्गार,

ओ मत्स्यगंधा !

अभिव्यक्ति, अभिव्यक्ति में व्यथामिश्रित राग, कपोलों पर दुलक आए आँसू राजन ने पहले भी देखे हैं, किंतु अभूतपूर्वता तो कहीं उनमें नहीं थी। अरुंधती की आँखें मुँदी रहीं। कपोलों पर अश्रु बहते रहे। राजन दोनों हाथों से उसका कंधा पकड़े प्रभाव में आया हुआ खड़ा देखता रहा।

अरुंधती ने अनुभव किया, राजन की पकड़ कड़ी होती आ रही है और यकायक राजन ने खींच कर उसे बाँहों में कस लिया। वह उसे रोक नहीं सकी, टोक नहीं सकी, बस, अपने को कस जाने दिया। इसके पूर्व भी वह राजन के निकट, बहुत निकट तक आयी थी, दो देहों के बीच का अन्तराल अदृश्य हो गया था, परन्तु आज की यह निकटता जैसे पूर्व के सारे अनुभवों से भिन्न हो। उन अनुभवों में सदैव कहीं एक रेखा थी, जो राजन और उसके अदृश्य अन्तराल से होकर गुजर जाती थी, उन्हें विच्छिन्न कर देती थी। निकटता के उन क्षणों में आत्मज्ञान तो कभी विस्मृत नहीं हुआ, विभाजक-रेखाएँ तो कभी विसर्जित नहीं हुईं। आज का यह अनुभव पूर्व के सारे अनुभवों से भिन्न था। राजन की बाहों में कसी जाकर, आश्रित-सी अनुभव करती हुई उसकी छाती पर अपना सिर टेक कर, राजन के शरीर की पुरुष-गंध से प्रभावित होकर वह जैसे अपने व्यक्तित्व के सारे प्रसार में अभ्रमय हो गयी थी। राजन के शरीर की गंध उसके शरीर में जितनी मादकता भरती जा रही थी, उसके प्रत्येक रोम में एक अप्रत्याशित विरह भरता जा रहा था और इन दो आवेशों के बीच उसे एक अपरिचित-सी विकलता का अनुभव हो रहा था।

राजन की बाँहें शिथिल पड़ीं। अरुंधती अलग हुई। पलकों को ऊपर उठाकर राजन को देखा। उसके होंठ आवेश से काँप रहे थे और मुख पर एक अचीन्ही-सी व्यथा तिर रही थी। कितना अप्रत्याशित है यह राजन। अरुंधती ने सोचा—कितना दुर्गम है। कुछ भी तो निश्चयात्मक रूप से इसके सम्बन्ध में जाना—कहा नहीं जा सकता।

यकायक राजन ने अपने सिर के बालों को एक झटका दिया । अरुंधती गत तीन वर्षों में इस राजन को देखती आई है । वह जानती है, यह किसी अप्रत्याशित की सूचना है । वह उसे झेलने को विवश-सी प्रस्तुत हो गई ।

राजन ने कमरे की छत पर अपनी दृष्टि जमाते हुए अवशिष्ट स्वर में कहा—“सुनिए, हाँ, लौटा लीजिए यह अपना समर्पण, मैं योग्य भी तो नहीं हूँ । मैं यहाँ से कल चला जाऊँगा ।”

राजन और आगे न कह सका । अरुंधती ने सुना और ठगी सी रह गई । कुछ समझ में न आया, क्या उत्तर दे । खड़ी-खड़ी चकित-सी छलछलायी आँखों से वह उस विचित्र जीव को देखती रही, जो आज अप्रत्याशित भाव से हठपूर्वक अपने कहे के उत्तर की प्रतीक्षा में खड़ा था ।

अरुंधती ने उसकी बाँह पकड़ कर चारपाई पर लिटाते हुए अवरुद्ध कंठ से कहा—“सो जाइए, सुबह हो रही है ।”



लिजा की माँ

[...“कपिला बिपिन की बगल में बैठ गई। मैंने देखा, तो बड़ा विचित्र लगा। घड़ी पर निगाह डाली। साढ़े दस। रात को साढ़े दस बजे कपिला, मायूस-सी कपिला मुझे सौ साल की लगी। सहसा मेरी दृष्टि रूबेन्स के चित्र की प्रतिकृति पर जाकर टिक गई। गहरे नीले रंग की रेशमी साड़ी में मैं इसे नहीं चीन्ह सकता।”.....]

मुझे कपिला ने देखा, तो सहसा विश्वास न कर सकी । आश्चर्य-चकित स्वर में पूछा—“कैसे आए ?”

“आ ही रहा हूँ ।” मैंने हल्की मुस्कराहट के साथ कहा और एक दृष्टि उसके चेहरे पर डाली । कपिला सन् इक्यावन में बाइस साल की थी । सन् अठारवन में चालीस की लगी ।

संभवतः कपिला ने मेरी दृष्टि की गहराई माप ली । अस्त-व्यस्त-सी होती हुई बोली—“देर की निकली हूँ । पप्पू जग गया होगा । अभी-अभी ।”

कपिला मेरी दृष्टि से कतराती हुई अंदर चली गई । मैं ड्राइंग-रूम में अकेला बैठा सामने टैंगे कैलेण्डर को देखता रहा जिसमें रुबेन्स की एक नग्न नारी-मूर्ति की प्रतिकृति अंकित थी । कपिला ने कितनी बारीकी से मुझे यह बता देना चाहा कि वह क्वारी कपिला नहीं है, विवाहित है, माँ हो गई है और अब मुझे उसे उस तरह नहीं देखना चाहिए । पप्पू जग गया होगा ।

ओ मत्स्यगंधा !

मेरी नजर खुद-ब-खुद रुबेन्स के उस चित्र पर से हट गई और मैंने आँखें मूँद लीं। कपिला जब एम० ए० में पढ़ती थी, उसके रूप का सम-तुल्य असंभव-सा लगता था। रुबेन्स ने वह नारी-आकृति कहाँ देखी थी। गहरे नीले रंग की रेशमी साड़ी में मैं अक्सर दूर से ही कपिला को देख कर पहचान लेता था।

अन्दर से कपिला का स्वर सुन पड़ा—“मिनी अभी कॉनवेन्ट से नहीं लौटी ?”

मैंने कलाई में बँधी घड़ी पर निगाह डाली। चार। पप्पू और मिनी ! एक दिन कपिला को मैं अपने घर ले गया था। मेरे मुँह से बार-बार उसकी तारीफ सुनकर मेरी भाभी ने यह समझ लिया था कि मैं उसे प्रेम करता हूँ। मुझे वह घटना याद है। विपिन अभी तक नहीं आया ?

पप्पू को गोद में लिए कपिला आयी। कितना प्यारा बच्चा है !

कपिला ने मेरे सामने की कोच पर बैठते हुए कहा—“देर हो गई, न ? क्या करूँ ? हो ही जाती है देर। बुल्लू को थोड़ा बुखार हो आया है।”

‘बुल्लू ?’

“हाँ, मिनी के बाद का।”

मैंने घड़ी पर निगाह डाली। पाँच।

कपिला को तीन बच्चे हैं। पप्पू मेरी ओर आश्चर्यविमूढ़ आँखों से एकएक देख रहा था। कितना प्यारा बच्चा है ! मैंने इशारे से उसे अपनी गोद में आ जाने का निमंत्रण दिया।

“बड़ा लाजुक लड़का है।” कपिला ने कहा।

“हूँ।”

रुबेन्स ने बच्चों के चित्र क्यों नहीं बनाए ? नंगे बच्चे कितने सुन्दर और प्राकृतिक लगते हैं ! बिल्कुल मक्खन-सा है यह पप्पू।

बाहर बारामदे पर किसी के दौड़कर चढ़ने की आवाज सुनाई पड़ी।

“मिनी आ गई।” कपिला ने उठते हुए कहा।

हाँ, मिनी आ गई। तुम कहाँ हो कपिला ?

बड़ी प्यारी-सी बच्ची है यह मिनी, बिल्कुल कपिला-जैसी। सयानी होगी तो इसके रूप का समतुल्य ढूँढ़े न मिलेगा।

कपिला ने कहा—“अंकल को गुड-ईवनिंग करो मिनी।”

मिनी ने गुड-ईवनिंग की। कपिला कैसी भाषा बोलती है !

“जाओ, जाकर आया से कपड़े बदलवा लो।” कपिला ने मिनी से कहा, फिर कोच पर बैठ गई। मैंने पप्पू को फिर अपनी गोद में आ जाने के लिए इशारा किया।

“उन्होंने एक दिन बताया था, तुमने अभी तक विवाह नहीं किया।” कपिला ने बातों को एक नई दिशा दी।

“विवाह ?” मुझे हँसी आ गई। पप्पू एकटक मुझे देख रहा था।

“हाँ, अब कर लो।” कपिला ने बड़ी आत्मीयता से कहा। औरत माँ बन जाने के बाद कितने सहज भाव से आत्मीय बन जाती है।

“सोचूँगा।” मैंने कहा।

“सोचने को क्या है ? मन का कोई विशेष आग्रह है क्या ?”

“नहीं। तुम जानती हो, मेरा या मेरे मन का कभी कोई आग्रह नहीं रहा।”

मिनी दौड़ती हुई आ पहुँची। इतनी बड़ी-बड़ी आँखें ! रुबेन्स को क्या हो गया था ? उसके देश की औरतें ऐसी आँखोंवाली बच्चियाँ नहीं जनती क्या ?

मिनी ने कहा—“आया तो घर में नहीं है माँ।”

“कहाँ मर गई कम्बख्त ?”—कपिला गुस्सा प्रकट करती हुई उठ खड़ी हुई। बोली—“कहा था बच्चों को पास-पड़ोस में न ले जाना, चेचक के दिन हैं। मगर...”

ओ मत्स्यगंधा !

मैंने कपिला की ओर देखा। वह मिनी के साथ पप्पू को गोद में लिए हुए अन्दर चली गई। मिनी, बुल्लू, पप्पू...और बच्चे ! विपिन पहले कहानियाँ लिखता था। अब पूरा इंजीनियर हो गया है। अमरीका से लौट आकर बहुत सारी अजीबोगरीब कहानियाँ उसने सुनाई थीं।

अन्दर से कपिला का स्वर सुन पड़ा—“जाकर अंकल से पूछो तो, चाय पिँगे ?”

“पी लूँगा।” मैंने मिनी के सवाल के जवाब में कहा।

आया ने अन्दर प्रवेश किया। गोद में दो-ढाई साल की एक बच्ची थी—आँखें मिनी से मिलती-जुलती। एक तीन-चार साल का बच्चा पीछे से आकर दौड़ता हुआ अंदर चला गया। बुल्लू कितने साल का है ?

अँधेरा हो चला। कपिला पप्पू को गोद में लिए आयी और मेरे सामने की कोच पर बैठ गई। दो क्षण बैठ कर बिना कुछ बोले उठी, दीवाल तक गई और बत्न जला दिया। रोशनी में कपिला अब भी अच्छी लगती है।

मैंने रुबेन्स के चित्र की ओर संकेत करते हुए कहा—“इसे हटा दो।”

“कह कर तो थक गई। वे मानते ही नहीं। उन्हें तो इंजीनियर नहीं, कलाकार बनना चाहिये था।”

“विपिन कब तक लौटता है ?”

“कोई ठीक है ? कभी दिन ढलते ही लौट आते हैं, कभी आधी रात हो जाती है।”

मैंने फिर एक बार कमरे को गौर से देखा। कपिला यकीनन गह-लक्ष्मी है।

बात बदलने के ख्याल से मैंने सवाल किया—“तुम्हारी बीणा क्या हुई ? देख नहीं रहा हूँ।”

“अरे, वीणा की भी तुमने खूब चलाई ।” कपिला ने कहा—“इन बच्चों की वीणा से फुर्सत कहाँ मिलती है ?”

मैं आगे कुछ और पूछना ही चाहता था कि अन्दर से किसी बच्चे के रोने की आवाज आयी । पप्पू कपिला की गोद में सो गया था । उसने उसे पास ही लिटाते हुए आया को पुकार कर कहा—“लिली को यहाँ दे जा ।”
लिली !

आया लिली को लेकर आयी । उसे गोद में लेते हुए कपिला ने पुचकार कर कहा—“न, न, रोते नहीं । अंकल सुनेंगे तो क्या कहेंगे ?”

बड़ी मुश्किल से लिली चुप हुई । कपिला ने प्यार से उसकी पीठ थपथपाते हुए कहा—“सोचा था, लेक्चरर बनूँगी ।”

मैंने गौर से कपिला को देखा । यह क्या है ? मुख पर असंतोष की कहीं कोई अभिव्यक्ति न दीख पड़ी । फिर भी मैंने सवाल किया—“यह जीवन अच्छा नहीं लगता ?”

आया चाय दे गई ।

कपिला ने मुस्कराते हुए कहा—“नहीं, बड़ा अच्छा लगता है यह जीवन ।”

भाभी को भी यह जीवन अच्छा लगता है । विद्वोभ कहीं नहीं है ।

“पियो न ।” कपिला ने चाय की ओर संकेत करते हुए कहा ।

“तुम नहीं पियोगी ?” मैंने चाय का प्याला उठाते हुए सवाल किया ।

“नहीं, आजकल चाय नहीं पीती । तबीयत ठीक नहीं है ।” कपिला ने कहा और उठ खड़ी हुई । सोए हुए पप्पू को उठाकर कंधे पर लिया और अन्दर चली गई ।

मैंने चाय पीते हुए पुकार कर कहा—“सुनो, जरा रेलवे टाइम-टेबल मेज देना ।”

ओ मतस्यगंधा !

“लो ।” -- थोड़ी देर बाद आकर कपिला ने टाइम-टेबल देते हुए कहा—“यह एक-ब-एक टाइम-टेबल की क्या जरूरत आ पड़ी ?”

“रात की गाड़ी से लौट जाना है न ।” मैंने टाइम-टेबल के पन्ने उलटते हुए कहा—“गाड़ी का एक्जैक्ट टाइम मालूम करना है ।”

“क्यों ?” सामने की कोच पर थकी-सी बैठती हुई कपिला ने जिज्ञासा की—“आज ही लौट जाओगे ? रुकोगे नहीं ?”

कपिला पचास साल की लगती है ।

“सम्भव नहीं है ।” मैंने उसकी ओर देखे बिना उत्तर दिया ।

“तो क्या जरूरत थी आने की ?”

मैंने कपिला की ओर देखा । नहीं । इस कपिला को मैं चीन्हा हूँ ।

मैंने कहा—“छः-सात साल हो गए थे तुम लोगों से मिले । अबसर मिला, तो कैसे चूक जाता ?”

“हमारी याद अब भी आ जाती है, क्यों ?” कपिला ने मुस्कराते हुए पूछा ।

मैंने कपिला की ओर देखा । क्या मानी ?—नहीं ।

बाहर मोटर का हार्न सुन पड़ा । कपिला उठ खड़ी हुई । बोली—
“आ गए ।”

मैं उठने ही को था कि विपिन ने प्रवेश किया और मुझे देख दौड़ कर बन्चों-सा लिपट गया । बोला—“अरे, ऑफिस में खबर तो भिजवा दी होती ।”

विपिन । मेरा मित्र । मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई ।

मैंने कहा—“मुझे क्या मालूम था कि तुम ऐसे कामकाजी हो गए हो ।”

मैंने विपिन को गौर से देखा । सदा से मैं उसके व्यक्तित्व के ऐश्वर्य का कायल रहा हूँ । पहली बार लक्ष्य किया, कपिला ने गहरे नीले रंग की

लिजा की माँ

रेशमी साड़ी पहन रखी है। विपिन मेरे सामने की कोच पर बैठ गया। कपिला खड़ी रही।

मैंने कपिला से कहा—“बैठो।”

विपिन ने कपिला से कहा—“चाय।”

“मैंने कहा—“तुम पियोगे तो पियो। मैं तो पी चुका।”

कपिला विपिन की बगल में बैठ गई।

“अरे!”—जैसे सहसा कुछ याद आ गया हो, विपिन ने उठते हुए कहा—“मैंने लिजा को तो मोटर में ही छोड़ दिया।”

लिजा? मुझे बड़ी व्यथा मालूम हुई। विपिन बाहर चला गया। कपिला वैसी ही बैठी रही। बोली—“तुमने लिजा की माँ को देखा होगा?”

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। शायद मैंने लिजा की माँ को देखा है। मैंने कपिला को फिर गौर से देखा। मुझे बड़ा विचित्र लग रहा था।

कपिला ने बड़े आग्रह से जिज्ञासा की—“यह निश्चय कर ही लिया है कि आज ही रात को लौट जाओगे?”

मुझमें कभी कोई आग्रह नहीं रहा है। मैंने कहा—“नौकरी की बात है न।”

गोद में एक बड़े-बड़े रोओवाली नाटे कद की सफेद कुतिया को लिए हुए विपिन ने प्रवेश किया। बोला—“वाह रे मिट्टी के शेर! नौकरी भी करने लगे हो?”

मैं चुप रहा। विपिन ने उसे उसी तरह गोद में लिए बैठते हुए कहा—“भई, तुम्हें नौकरी की क्या जरूरत आ पड़ी? मुझे तो इतना बड़ा परिवार चलाना पड़ता है।”

मैं मुस्करा कर रह गया। सात वर्षों का अन्तराल। कपिला ने विपिन से कहा—“देखो न, यह आज ही लौट जाने की बात कर रहे हैं।”

श्री मत्स्यगंधा !

विपिन ने साश्चर्य मेरी ओर देखा । कपिला ने कहा—“कहती तो हूँ कि ऐसी क्या जल्दी है, मगर मानते ही नहीं ।”

“बनता है । पुरानी आदत है ।” विपिन ने मेरी ओर देखते हुए कपिला से कहा—“मैं नहीं कहूँगा, कहीं मान गया तो ?”

“नहीं जी, बड़ी विवशता है ।” मैंने मुस्कराते हुए कहा ।

“कब विवशता नहीं रही है तुम्हारे साथ ?” विपिन ने बड़े आग्रह के साथ मेरी ओर देखते हुए कहा ।

मुझमें कभी कोई आग्रह नहीं रहा । मैं फिर उत्तर में मुस्करा कर रह गया । कलाई में बँधी घड़ी पर निगाह डाली । आह । साढ़े ग्यारह में गाड़ी जाती है ।

मैंने लिजा की ओर संकेत करते हुए कहा—“बड़ी प्यारी है !”

विपिन ने कहा—“इसकी माँ और भी अच्छी थी । तुमने तो संभवतः देखा था !”

कपिला !

मैंने फिर कलाई में बँधी घड़ी पर निगाह डाली । अन्दर से बच्चों के आपस में झगड़ने-रौने की आवाज आयी । कपिला उठकर चली गई । मैं पीछे से अब भी गहरे नीले रंग की रेशमी साड़ी में इस कपिला को चीन्ह सकता हूँ ।

“सच, आज ही चले जाओगे ?” विपिन ने बड़े आग्रह से जिज्ञासा की ।

“जाना ही होगा ।” मैंने कहा ।

“तार दे दो ।” विपिन ने सुझाया ।

“नहीं, रुकना ठीक नहीं होगा । शायद भाभी को बच्चा होनेवाला है ।” मैंने कहा ।”

विपिन लिजा के बदन के रोओँ में खो गया । अमरीका से लिजा की माँ को लेकर लौटा था, तो दिन-रात उसी में खोया रहता था ।

कपिला ने आकर सूचना दी, भोजन तैयार है। हम भोजन करने अन्दर चले गए।

कपिला ने विपिन के प्लेट में फुल्के डालते हुए कहा—“बुल्लू का बुखार कुछ बढ़ गया है।”

“डॉ० सेन को फोन कर दूँगा।” विपिन ने कहा।

फोन कहाँ है? शायद अन्दर हो। मैंने बुल्लू को नहीं देखा। बुल्लू मिनी के बाद का है। कितने साल का है? विपिन बड़ी अच्छी कहानियाँ लिखता था।

मैंने विपिन से सवाल किया—“आजकल कहानियाँ नहीं लिखते क्या?”

“कहानियाँ?” विपिन ने कहा—“भली चलाई तुमने। सात साल हो गए कहानियाँ लिखे।”

मैंने कहा—“लेकिन छोड़ो नहीं, लिखा करो। तुममें कहानियों के बीज पहचानने की बड़ी प्रतिभा है।”

विपिन ने अपने प्लेट की ओर बढ़े हुए कपिला के हाथ को रोकते हुए कहा—“नहीं, मुझे नहीं, फुल्के इसे दो।”

“नहीं, नहीं, मैं तो समाप्त भी कर चुका।” मैंने कहा।

शायद पप्पू जग गया था। कपिला कमरे में चली गई।

बैठके में आकर बैठते ही फिर कलाई में बँधी घड़ी पर निगाह डाली। दस।

मैंने कहा—“देखो न, जाने में कुल एक घंटा रह गया है और बातें करने को यह पारावार पड़ा है।”

“तो कौन कहता है कि जाओ। रुक जाओ न आज भर। विपिन ने कहा।

“सम्भव होता, काश!” मैंने कहा।

ओ मत्स्यगंधा !

पप्पू अभी तक जगा हुआ है शायद या बीमार बुल्लू माँ से जुड़ गया है ।

विपिन ने उठते हुए कहा—“बैठो, मैं जरा डॉ० सेन को फोन कर आऊँ ।”

विपिन लौट आया ।

मैंने कहा—“लोला को नहीं देख रहा हूँ ।”

“लोला !” विपिन ने ठहाका लगाया—“अभी तक तुम्हें वह याद है ?”

“हाँ, क्यों नहीं ? कितनी प्यारी-प्यारी-सी थी, ठीक लिजा जैसी ।” मैंने कहा ।

कपिला ने कमरे में प्रवेश किया । आते ही बोली—“सुनते हो, बुल्लू का बुखार वैसे ही है । उतरने का नाम नहीं लेता । विचारों बड़ा थका-सा सो गया है । आया को पास बिठा कर आ रही हूँ । कह दिया है, आज रात उसे यहीं रहना है । ठीक किया न ? तुमने डॉ० सेन को फोन कर दिया ?”

“हाँ ।” विपिन ने कहा ।

कपिला विपिन की बगल में बैठ गई । मैंने देखा, तो बड़ा विचित्र लगा । घड़ी पर निगाह डाली । साढ़े दस । रात को साढ़े दस बजे कपिला, मायूस-सी कपिला मुझे सौ साल की लगी ! सहसा मेरी दृष्टि रूबेन्स के चित्र की प्रतिकृति पर जाकर टिक गई । गहरे नीले रंग की साड़ी में मैं इसे नहीं चीन्ह सकता ।

कपिला को अपने से तोड़ने के लिए मैंने विपिन को टोका—“अरे हाँ, तुमने बताया ही नहीं, लोला का क्या हुआ ?”

“मैंने उसे मरवा डाला ।” विपिन ने बड़े सहज भाव से कहा ।

“मरवा डाला ! क्यों ?” मुझे यह बड़ा विचित्र लगा ।

कपिला मुझे अच्छी नहीं लगती। मैं कपिला की ओर नहीं देखूँगा।

“कुतिया की जात, सँभाले न सँभली।” विपिन ने वैसे ही सहज भाव से कहा—“हर साल बच्चे, हर साल बच्चे। उफ़! जब छठी बार लोला गर्भवती हुई, उसके बदन के सारे रोएँ भर गए। पूरी आकृति ऐसी घिनौनी और गिंदरोइन-सी हो आयी कि पास आती तो उबकाई-सी आने लगती। कपिला ने भी घिन्-घिन् शुरू की। दस लोग मिलने-जुलने आते ही रहते हैं—सुबह-शाम। उनके सामने उसका आना-जाना बड़ा बुरा लगने लगा। हमारी जो एक सौन्दर्य-चेतना है, वह लोला की इस शारीरिक विकृति से आहत-सी होने लगी। और फिर, लोला के इतने सारे बच्चे! उफ़!”

मैंने लक्ष्य किया, कहते-कहते विपिन के मुख पर घृणा की एक बड़ी भयानक अभिव्यक्ति उभर आयी थी। विपिन ने कह कर जेब से सिगरेट निकाली और बगल की टेबल पर पड़े हुए लाइटर की ओर संकेत करते हुए कपिला से कहा—“जरा देना।”

कपिला बेटे सौ साल की लगती है—शीर्ण। मेरी दृष्टि रूबेन्स के चित्र की प्रतिकृति पर जाकर टँग गई।

“और लोला के बच्चे?” तनिक देर बाद मैंने किञ्चित् सहज हो आने पर जिज्ञासा की।

“कुछ को तो मित्र ले गए। बाकी को उसी के साथ.....। तुम्हीं बोलो, इतने बच्चों को रखकर क्या होगा? बस, मेरे पास एक लिजा ही रह गई है।” विपिन ने मुँह से वृत्ताकार धुआँ निकालते हुए कहा।

मैंने घड़ी पर निगाह डाली। ग्यारह।

मैंने उठते हुए कहा—“अच्छा, तो अब बिदा दो। गाड़ी का वक्त हो गया है।”

विपिन ने उठते हुए कहा—“चलो, मैं कार से स्टेशन तक छोड़ आऊँ।”

ओ मत्स्यगंधा !

मैंने मुड़कर कपिला की ओर विदा माँगने के लिए देखा, तो जाने जी कैसा हो गया । कितनी थकी हुई लगती है कपिला !

कपिला ने बड़े सहज भाव से पेट के समीप आँचल के किनारे को ठीक करते हुए पूछा—“फिर कब आओगे ?”

मेरी दृष्टि कपिला के पेट पर टिक गई । मैंने दृष्टि हटा ली ।

मैंने मुड़कर जोर से विपिन को पुकारते हुए कहा—“विपिन, तुम जानते हो, मेरी माँगने की कभी आदत नहीं रही, मगर आज कोई चीज माँगूँ तो दोगे ?”

“जान हाजिर है प्यारे, माँगो तो सही ।” विपिन ने कार स्टार्ट करते हुए कहा ।

मैंने बाहर आकर कहा—“मुझे वह रुबेन्स के चित्रवाला कैलेण्डर दे दो ।”

मुझे आश्चर्य से देखते हुए विपिन ने कहा—“क्यों शर्मिन्दा करते हो ?”

“नहीं, सच, मुझे वही चाहिए ।” कहकर मैंने विपिन के उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की । अन्दर जाकर वह कैलेण्डर उतार लाया ।

आकर कार में विपिन की बगल में बैठते हुए मैंने कहा—“चलो ।”

कपिला की थकी-सी आवाज सुन पड़ी—“पत्र जरूर लिखना ।”

नहीं, मैं कपिला की ओर नहीं देखूँगा । वह मुझे बिल्कुल अच्छी नहीं लगती ।



अप्रत्याकृति

[.....“जिस महत्वाकांक्षा को तृप्ति के लिए मैंने कभी भटनागर जी को अस्वीकार किया था, वह मुझे निरंतर निरर्थक प्रतीत होती गई। और अंत में मैंने तय किया कि मैं इस पत्नीत्व की मर्यादा का भंजन करूँगी—भटनागरजी को सिद्धयूस करूँगी।.....वह रात आयी। मैंने वह किया। कितना भिन्न था पूर्व के उस शय्या-सहवास से यह शय्या-सहवास ! उसके बाद से, उसी क्षण से मैं आत्मच्युत होती जा रही हूँ। जगतजी लौट कर आएँगे। मैं आपसे यही पूछना चाहती थी—मैं उन्हें क्या दूँगी ?”...]

भुवन गौरा के प्रति प्रीतिमान था, वह उसका कभी आकांक्षी नहीं हुआ। तब सोचता हूँ, रेखा ने डॉ० रमेश से विवाह क्यों किया? यह अवश्य है कि परम्परा के अनुकूल रेखा ने जिसे चाहा, उसे उपलब्ध नहीं कर सकी। वह प्रायः अप्रत्याशित किन्तु स्वाभाविक कूल से सम्बद्ध हो गई। रेखा ने अपने व्यक्तित्व में एक सर्जन को रूपायित करना चाहा था, डॉ० रमेश से प्लावित होना स्वीकार किया। तब, भुवन से प्लावित होकर तृप्त हो जाने की अभिव्यक्ति की सार्थकता क्या रह गई। व्यक्तित्व का यह अनुगम तो हेमेन्द्र से भी सम्भव था। प्रो० मेहता के प्रति मालती, डॉ० मालती का संकेतित, प्रायः आकांक्षित पत्नीत्व और उसका अनुपलब्धिपूर्ण विसर्जन—वह अंत क्या इसी अनुगम की प्रक्रियात्मक पीठिका था?

सोचता हूँ, पीड़ित होकर सोचता हूँ। ठीक है। हो सकता है। किन्तु, इससे अपर्याप्त सिनहा का व्यक्तित्व व्याख्यायित नहीं होता। आज से एक साल पहले अस्वीकारात्मक भाव से प्रारम्भ कर अंत में स्वीकारात्मक भाव से वे नित्यानन्द भटनागर की प्रेयसी हुई। एक माह पहले उन्होंने जगत

ओ मत्स्यगंधा !

श्रीवास्तव से विवाह किया और आज से कुल एक दिन पहले उन्होंने सोनालजिन की पूरी शीशी दूध में धोल कर सेवन की और जगत श्रीवास्तव को दूसरा विवाह कर लेने की अनुमति देकर स्वर्ग सिंघार गईं ।

अपर्णाजी से मेरा परिचय भटनागर के यहाँ हुआ था । उस दिन, मैंने उन्हें बड़े तटस्थ भाव से ग्रहण करते हुए वहीं अस्वीकार कर दिया था । जाने क्यों, मुझे यह लगा था कि व्यक्तित्व से वे एक नहीं हैं । कई प्रतिमाओं की सम्मिलित धारणा उनमें है । इसीलिए, मैंने उन्हें देखा, उनसे परिचित हुआ, उनके नमस्कार को प्रत्यावर्तित किया, किन्तु उन्हें अस्वीकार कर दिया ।

कोई घंटे भर बाद जब वे चली गईं, भटनागर ने कहा — “तुम साहित्य के विशेषज्ञ हो, इनकी प्रत्याकृति कहीं मिलेगी ? नहीं, नहीं मिलेगी । हिंदी में तो अब भी शैशवावस्था है । सम्बन्धों से तटस्थ मात्र नारी हिन्दी में कभी कल्पित ही नहीं हुई । मालती यह होते-होते रह गई, रेखा हुई तो स्वीकार्य नहीं हुई ।”

मुझे आश्चर्य हुआ । भटनागर द्रव रूप में मेरे लिए अकल्पित था । मैंने हल्के मुस्कराते हुए कहा — “सुनीता को जानते हो ?”

“जानता हूँ ।”—भटनागर जरा आवेश में आ गया—“क्या है सुनीता ? सम्बन्धों से तटस्थ है वह ? श्रीकांत उसके अस्तित्व के लिए अनिवार्य है, अन्यथा वह नहीं है ।”

मैंने मन-ही-मन सोचा, आगे जिज्ञासा का प्रतिकार व्यर्थ होगा । चुप हो गया । एकाध बार भटनागर ने टोका भी, चाह कर कुरेदा भी लेकिन मैंने कुछ नहीं कहा, उठकर चला आया । फिर भी, भटनागर की जिज्ञासा ने मुझे अपर्णाजी के प्रति उत्सुक कर दिया था । उसके प्रति मेरी एकाग्र तटस्थता खलित हो चली थी । रात को खा-पीकर डायरी लिखने बैठा, तो कुछ लिखा नहीं गया । भटनागर की जिज्ञासा प्रकट होकर कातर कर गई ।

कितनी निरर्थक शृंखला है.....मालती, सुधा, रेखा, डॉ० शीला स्वर्ग, रंजना...और सुनीता (>सुखदा)...और यह अपर्णा। सोच कर मैंने लिखा—“हाँ, अब मैं कहानियाँ नहीं लिखूँगा, यह मुझे स्वीकार है। किंतु, अपर्णाजी को वह स्थान नहीं दूँगा, वह स्वीकृति नहीं दूँगा। अपनी किसी प्रीति-कथा की नायिका के रूप में अपर्णाजी की स्थापना मैं नहीं सह सकता।”

इसके बाद जान-बूझ कर मैं एक महीने तक भटनागर से नहीं मिला। लेकिन, एक दिन, जब भटनागर ने साग्रह-सानुरोध बुला मेजा, जाना ही पड़ा। पहुँच कर मैंने देखा, अपर्णाजी के सिवा वहाँ जगत श्रीवास्तव भी उपस्थित था। मुझे देखते ही अपर्णाजी ने भटनागर को सम्बोधित करते हुए कहा—“चलिए, छत पर ईद मनाएँगे।”

मैं गम खा गया। भटनागर ने अपर्णाजी से मुस्कराते हुए पूछा—“इस मरदूद को देखते ही यक-ब-यक ईद मनाने का झगाल कैसे पैदा हो गया?”

“क्यों?”—अपर्णाजी ने कहा—“बड़ी मुश्किल से चाँद देखा है मैंने।”

सभ्यता का तकाबा था, इसलिए मुस्करा कर यह व्यक्त करना पड़ा कि अपर्णाजी की इस प्रगल्भता का मैंने रस लिया।

जगत श्रीवास्तव बड़े अनमने भाव से बैठा था। बात बदलने के लिए उसे लक्ष्य करते हुए मैंने कहा—“बड़े उदास बैठे हो? भटनागर ने चाय नहीं पिलाई क्या?”

वह कुछ कहने ही जा रहा था कि भटनागर उठ खड़ा हुआ। बोला—“तुम्हारी ही प्रतीक्षा थी। चलो, छत पर कुर्सियाँ लगी हैं। वहाँ बातें भी होंगी, अपर्णाजी का गाना भी सुनेंगे और चाय भी चलेगी।”

कहकर भटनागर ने अपर्णाजी को बड़े आग्रह से देखा। अपर्णाजी

ओ मत्स्यगंधा !

सम्भवतः उस दृष्टि के लिए प्रस्तुत नहीं थीं। यकायक गंभीर हो आयीं। उठते हुए बोलीं—“भटनागरजी, एक बात कहूँ, बुरा न मानियेगा। आपके कहे से ‘मैं नदी के द्वीप’ पढ़ गई हूँ। भुवन और चन्द्रमाधव के साथ एक रूमानी परिचित में होकर रेखा को गाना ही चाहिये, यह स्थिति मुझे स्वीकार नहीं है।”

फिर, जैसे, अपने कथन के बोझ का अनुभव करते हुए उसे हल्का करने के लिए मुस्कराते हुए बोलीं—“यों, यह सत्य है कि न तो आप भुवन हैं और न मुझे रेखा होने की क्षमता प्राप्त है।”

मैं यह देखना चाहता था कि अपर्णाजी के इस कथन का भटनागर पर कैसा प्रभाव पड़ा, किन्तु इसी बीच जगत श्रीवास्तव ने मुझे मेरी बाँह पकड़कर खींच लिया और मैं तेजी के साथ उसे लिये सीढ़ियाँ चढ़ गया। पल भर बाद भटनागर भी अपर्णाजी के साथ ऊपर आ गया। नहीं, कोई ऐसी अभिव्यक्ति न तो भटनागर के मुख पर दीख पड़ी, न अपर्णाजी के मुख पर। सब कुछ वैसे ही सहज भाव से चलने लगा। किन्तु, फिर भी, मुझे लगा, ऊपर आकर यह महफिल कुछ उलझ गई है, मित्रों के बीच जो व्यक्तित्व की परस्पर मुक्ति होती है, वह बाधित हो गई है।

लौटते हुए अपर्णाजी को उनके घर छोड़ आना पड़ेगा, इस स्थिति की संभावना कभी मेरे मन में आयी ही नहीं थी। फिर भी, मुझे यह करना पड़ा। अपने मकान का फाटक खोलते हुए अपर्णाजी ने कहा—“आज तो नहीं कहूँगी आपसे कि आइए, लेकिन किसी दिन आइएगा तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। भटनागरजी तो दिन में अवसर निकाल कर दो-तीन बार आ जाते हैं।”

मैं बेहद सजग हो आया। भटनागर की कथा मुझसे कह कर जो संकेतित किया गया था, उसे, फिर भी, मैं स्पष्टतः ग्रहण नहीं कर सका। किन्तु, मेरा मन अपर्णाजी की ओर से और भी प्रतिकूल हो आया। अप्रकट

रूप से यह निश्चय करते हुए कि कभी आना भी पड़ेगा तो नहीं आऊँगा, प्रकट में मैंने कहा—“हाँ, कभी आऊँगा।”

किन्तु इसके बाद लगभग छः महीनों तक मेरी भटनागर और अपर्णा जी से भेंट न हो सकी। एक आवश्यक कार्य से मुझे नेपाल चला जाना पड़ा। बस, इस बीच भटनागर और जगत श्रीवास्तव के पत्र आते रहे और उनसे भटनागर और अपर्णाजी के सम्बन्ध के संकेत मिलते रहे।

छः महीने बाद जब नेपाल से लौटकर आया, रोटरी क्लब द्वारा आयोजित एक पार्टी में अपर्णाजी से भेंट हुई। मुझे देखते ही बोलीं—“आप लौट आए, बड़ा अच्छा किया। आपको क्या पता, मैं कितनी व्यग्र होकर आपकी प्रतीक्षा कर रही थी।”

सुनकर मैं स्तम्भित रह गया। मेरी व्यग्र प्रतीक्षा का अर्थ क्या हो सकता है? एक बार मैंने चारों ओर दृष्टि डाल कर यह जान लेना चाहा कि हमारे परिचय के प्रति कोई जिज्ञासु या उत्सुक तो नहीं है। बड़ी सुविधा का अनुभव हुआ जब मैंने यह लक्ष्य किया कि जिस टेबल पर ठीक मेरे सामने आकर अपर्णाजी बैठ गई थीं, उस टेबल पर हमारे सिवा कोई अन्य व्यक्ति नहीं था। मैं बिना कोई उत्तर दिये धीरे से उठा और सयास ढूँढ़ते हुए अपने एक अन्य परिचित के पास जाकर बैठ गया।

लेकिन दूसरे दिन सोकर उठा ही था कि नौकर ने एक छोटा-सा पुर्जा दिया। पढ़ा, अपर्णाजी का था। उन्होंने लिखा था—“उम्र की उन्तीसवीं कड़ी छू रही हूँ। पुरुषों की दृष्टि चीन्ह सकूँ, इतना अनुभव उनके विविध सम्पर्कों ने दिया है। जानती हूँ, आप मेरी निकटता से संकुचित हो उठते हैं। फिर भी, मेरा विवश आग्रह है, आज संध्या को आप मेरे यहाँ जरूर आइए। अपनी ओर से मैं आपको आश्वस्त करती हूँ कि मेरे मन में कभी आपकी आकांक्षा नहीं जगी। मैंने कभी आपको प्रेय पुरुष के रूप

ओ मत्स्यांघा !

में देखा-सोचा है, यह भी याद नहीं। बस, आत्मरक्षा के लिए मैं आपका उपयोग करना चाहती हूँ।”

न चाहते हुए भी जाना पड़ा। अपर्णाजी लॉन में बैठी मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। मुझे देखते ही उठ खड़ी हुई। बोली—“मैं जानती थी, आप अवश्य आएँगे।”

“जी, आपके उस छोटे-से पत्र ने बाध्य किया।” मैंने कुर्सी पर बैठते हुए कहा।

अपर्णाजी सामने की कुर्सी पर बैठ गई। उत्तर में कुछ बोली नहीं, बस, मंद-मंद मुस्कराती रही।

“क्या सोच रही हैं आप?” अपर्णाजी के मौन को बेघने के खयाल से मैंने कहा।

“नहीं, कुछ नहीं। यों ही।” —अपर्णाजी ने कहा—“सोचती हूँ, मन के जिस डूबते मस्तूल की रक्षा के लिए मैंने आपको साग्रह बुलाया है, आप इतने तटस्थ हैं कि उसकी शायद आपसे रक्षा न हो सकेगी। सोचती हूँ, मेरे चरित्र में भी उतनी ही व्यर्थ की प्रगल्भता होती, जितनी रंजना में थी, तो मैं आप में अकलंक को प्रतिमायित कर सकती।”

मैंने सुनकर स्वयम् को संयत रहने दिया, इस पर मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने कहा—“यह आपके लिए अधिक सुविधापूर्ण है कि मैं औपन्यासिक नहीं हूँ, इतना प्रकृत हूँ। आप कहिए।”

कहकर मैंने अपर्णाजी को ध्यान से देखा। वे वैसे ही मंद-मंद मुस्करा रही थीं। यह औरत कितने प्रकट भाव से अप्रकट व्यक्तित्व धारण कर सकती है! भटनागर ने ठीक ही जिज्ञासा की थी। साहित्य में कहीं इनकी प्रत्याकृति नहीं मिलेगी।

बदि अपर्णाजी ने एक विचित्र-सा प्रश्न नहीं कर दिया होता, तो मैं जाने कब तक उन्हें यों ही देखता रहता और सोचता रहता। अपर्णाजी ने

एकाएक प्रश्न किया—“देखिए, भटनागरजी से मुझे प्रेम करना ही चाहिए, यह अनिवार्य है ?”

“जी ?”.....मैं चौंक उठा । एक झटका-सा लगा ।

“नहीं, चौकिए नहीं कि प्रश्न विचित्र है ।”—अपर्णाजी ने मेरी आश्चर्यबोधक अभिव्यक्ति को स्पर्श किया—“सच, मैं स्त्री हूँ, इसलिए पुरुष के सम्पर्क में आते ही मुझे उसे धारण करना ही होगा ? इस सम्बन्ध का विकास मित्रता तक यथेष्ट नहीं है, उसके आगे शय्या तक जाना ही होगा ?”

सहसा मेरी समझ में नहीं आया कि अपर्णाजी को क्या उत्तर दूँ । जिस स्थिति को अपर्णाजी ने प्रश्न बनाकर उपस्थित किया था, उसमें ऐसे किसी प्रश्न की सम्भावना पहले कभी मेरे मन में नहीं जगी थी । फिर भी, कुछ तो कहना ही होगा, इसलिए मैंने कहा—“देखिए, परिस्थितियों से आपका प्रश्न सम्बद्ध है । हम जिन परिस्थितियों में पले-बढ़े हैं, उनमें शय्या से परे स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध अकल्पनीय ही है ।”

“ठीक है ।” अपर्णाजी ने मेरे उत्तर को बढ़े ही सहज भाव से लेते हुए कहा—“मैं मानती हूँ कि वर्तमान देशीय परिस्थितियों में यही स्वाभाविक है । शय्या-प्रीति से मैं विमुख हूँ, ऐसा नहीं है । मैं स्त्री हूँ, स्वभाव से, प्रकृति से धरणी । इसलिए इसके प्रतिकूल की कल्पना को मैं भी प्रकृत-अवस्था में अस्वीकार करती हूँ । उन मनीषियों के प्रति मैं भ्रद्धा-विनत हूँ, जिन्होंने प्राचीन-काल में मुझे ‘म्ना’ कहा था । ‘म्ना’ मैं हूँ और यह भी कि होना चाहती हूँ । किन्तु मेरे साथ यहीं स्थिति कुछ बदल जाती है । मेरी महत्वाकांक्षाएँ भटनागरजी के आश्लेष की परिधि से बड़ी हैं । मैं मित्र ही हो सकती हूँ, शय्या-सखी नहीं हो सकती ।”

मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा था । भटनागर भी मेरे परिचय की परिधि से निकला जा रहा था । सम्बन्धों से तटस्थ मात्र नारी के प्रति उसकी

ओ मत्स्यगंधा !

श्रद्धा मैं जानता था। अपर्णाजी के इस रूप के प्रति उसके भावों से मैं परिचित था। आकर्षण भिन्न स्थिति है, घनिष्ठता भी भिन्न स्थिति है। अपर्णाजी के साथ मैं उसे इन दोनों स्थितियों में देख सकता था, किन्तु अपर्णाजी जिधर संकेत कर रही थीं, भटनागर की वह दिशा मुझको अपरिचित थी। मैंने सवाल किया—‘तो, कहिए, मुझे क्या करना होगा?’

अपर्णाजी ने कहा—“यही तो मैं भी सोचती हूँ।”

मैंने उठते हुए कहा—“अच्छा, मैं भटनागर से कहूँगा।”

अपर्णाजी बैठी रहीं। बोलीं—“क्षण भर और बैठिए न। कम-से-कम चाय पी लीजिए तो जाइएगा।”

मैंने हाथ जोड़ते हुए कहा—“नहीं, तकल्लुफ की जरूरत नहीं। फिर कभी।”

अपर्णाजी सुनकर उठ खड़ी हुई। बोलीं—“फिर कभी पर मेरी आस्था नहीं। मैं यह कहूँगी भी नहीं कि फिर कभी मेरे यहाँ आइए। इस बार भी बुला कर मन-ही-मन पीड़ित ही हुई हूँ। लेकिन, उपाय क्या था?”

औरतों के प्रति अपनी शंकाएँ प्रवृत्ति के लिए पहली बार दुखी हुआ। बोला—“नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। मैं आऊँगा।”

मैं लौट आया। रात को सोने के पहले डायरी लिखते हुए तय किया कि कल ही इस सम्बन्ध में भटनागर से बातें करूँगा। किन्तु दूसरे दिन मैं भटनागर से मिल नहीं सका। सबेरे तार पाकर फिर एक आवश्यक काम से मुझे एक-ब-एक नेपाल चला जाना पड़ा। सोचा था, एक-दो दिनों में लौट आना हो सकेगा, लेकिन यह सम्भव न हो सका। करीब पाँच-छह महीने मुझे वहाँ रह जाना पड़ा। इस बीच अपर्णाजी और भटनागर के सम्बन्धों के संकेत पत्रों से ही मिलते रहे और उसके प्रति मेरी जिज्ञासा और उत्सुकता बढ़ती ही गई। सबसे पहले जगत श्रीवास्तव का एक छोटा-सा पत्र मिला। उसने लिखा था.....“भटनागर वही है—

तथाकथित इंटेलिक्चुअल । ऐसे व्यक्तियों में जैसा चारित्रिक विरोधाभास होता है, उसमें भी है । कल रात उसने रोटरी क्लब में स्त्री-पुरुष के मित्रतापरक तटस्थ सम्बन्ध के समर्थन में भाषण किया और अपर्णाजी के साथ लौटते हुए विवाह का प्रस्ताव । अपर्णाजी बेहह नाराज हैं, सुना है ।”

फिर एक महीने तक किसी का कोई पत्र नहीं मिला । जगत श्रीवास्तव को दो-एक पत्र भी डाले, किंतु कोई उत्तर नहीं मिला । एक बार अपर्णाजी को लिखकर पूछने का मन हुआ, लेकिन नहीं लिखा गया । जाने इस मात्र जिज्ञासा को वे क्या समझ बैठें ! तरह-तरह से कल्पनाएँ करता रहा ।

एक दिन सहसा भटनागर का एक पत्र मिला—दीर्घ, असंतुलित । उसने इधर-उधर की ढेर-सी बातें लिखने के बाद लिखा था.....इन दिनों मुझे तुम्हारी आवश्यकता है, इसका तुम अनुमान भी नहीं लगा सकते । इन दिनों जैसे भीषण मानसिक वात्याचक्र में फँसा हूँ, वह सम्भवतः तुम्हारी कल्पना से परे है । सोचा था, जैसे हूँ, जीवन वैसे ही निभ जायगा । सम्बन्धों से तटस्थ होकर, एक हृद तक विच्छिन्न होकर जो जीवन मैं जी रहा था, सोचा था, जी जाऊँगा । इसीलिए अपर्णाजी जब आयीं, उनकी तटस्थता, चरित्र की मुक्ति ने मुझे विशेष आकर्षित किया । कब सोचा था कि जो गुण परिधि की ओर खींचते हैं, वे केन्द्र की ओर भी खींच सकते हैं ? जाने कैसे, धीरे-धीरे अपर्णाजी के प्रति मेरे मन में मोह फैलता गया । मैंने विवाह प्रस्तावित किया । उन्होंने प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया । उस प्रस्ताव का बुरा भी मान गई हैं । अब मुझसे मिलतीं-बोलतीं भी नहीं । मैं उन्हें कैसे समझाऊँ कि मैं उनके निकट नहीं गया था, वे ही मेरे निकट आयी थीं ! तुम आ सको, तो इस संक्रांति से उबारने के लिए दो दिनों के लिए आ जाओ ।”.....

भटनागर का पत्र पढ़कर उसके लिए मन में व्यथा भर आयी । कोशिश की कि दो दिनों की भी छुट्टी मिल जाए, लेकिन छुट्टी नहीं मिली । विवश

ओ मत्स्यगंधा !

होकर भटनागर को अपनी विवशता की सूचना दे दी, लेकिन फिर उसका कोई पत्र नहीं मिला। करीब डेढ़ महीने के बाद एक दिन शाम की डाक से अपर्णाजी का एक पोस्ट-कार्ड मिला। लिखा था....“मेरे साथ कुछ भी गोपनीय नहीं है और लिखने को बातें इतनी कम हैं कि जान-बूझ कर, सोच-समझ कर कार्ड का उपयोग कर रही हूँ। यह भी न लिखती, किन्तु सोचा कि सूचित कर दूँ कि जिस डूबते मस्तूल की रक्षा के लिए एक दिन मैंने साग्रह आपको अपने यहाँ बुलाया था, सोचती हूँ, उसे डूब ही जाने दूँ। वस्तुतः दोष भटनागर जी का नहीं है। यह स्वाभाविक है। दोष हमारी परस्पर पूरक विरुद्ध योनि-रचना का है। इसीलिए, फिर उनसे मिलने-बोलने लगी हूँ और मुझे आश्चर्य नहीं होगा यदि मैं किसी दिन उनके प्रस्ताव को स्वीकार भी कर लूँ। जिस एकाकीपन से भटनागरजी ने विद्रोह किया था, उससे मैं भी पीड़ित हो उठी हूँ। मैं मानने लगी हूँ, और मेरी स्पष्ट अभिव्यक्ति को क्षमा कीजिए, मैंने इधर अनुभव किया है कि स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का विकास मित्रता तक यथेष्ट नहीं है, उसके आगे शय्या तक जाना ही होगा।”...

अपर्णाजी का पत्र पढ़कर जहाँ एक ओर जाने कैसी विचित्र अनुभूति हुई, वहीं जी को बड़ा भला भी लगा। भटनागर की तुलना में अपर्णाजी के इस विसर्जन, इस पराजय से मन को बड़ा सुख होगा। अब तक अपर्णाजी के प्रति मन में जो एक कटाव-दुराव की भावना थी, वह भी गलती-सी लगी। तय किया, इस बार लौटकर अपर्णाजी के यहाँ बिना बुलाए जाऊँगा और उनसे कहूँगा—“हाँ, इस डूबते मस्तूल को डूब ही जाने दीजिये। कभी आत्म-रक्षा की प्रक्रिया में विलयन भी अनिवार्य होता है।” किन्तु, कुछ ऐसे चक्कर में फँसा कि तुरन्त उनके पत्र का उत्तर भी न दे सका। बीस-पच्चीस दिन गुजर गए।

एक दिन काम से फुर्सत पाकर दिन के दस-ग्यारह बजे चुपचाप बैठा

उन्हीं के बारे में सोच रहा था कि ढाकिया एक छोटा-सा रंगीन लिफाफा दे गया। खोल कर पढ़ा और ठगा-सा रह गया। जगत श्रीवास्तव के विवाह का निमन्त्रण-पत्र था। पीठ पर अपर्णाजी के हाथ की एक छोटी-सी पंक्ति थी—“आइए जरूर। आश्चर्य में डूबे न रह जाइए।”

इस निमन्त्रण-पत्र से अपर्णाजी से जुड़ता हुआ मन फिर टूट गया। लगा, उनके प्रति मेरे मन में एक घृणा जग रही है। इतना आकुंचित चरित्र! मन सदैव व्यभिचारी होता है, किन्तु व्यक्तित्व की यह पांशुलता मेरी समझ के बाहर हो चली थी।

रात को मैंने जगत श्रीवास्तव को पत्र लिखा.....“तुम्हारे विवाह का निमन्त्रण-पत्र मिला। अपर्णाजी तुम्हारे लिए सार्थक हों। किन्तु तुम्हारे विवाह में सम्मिलित हो सकूंगा, यह विश्वासपूर्वक नहीं कह सकता। फिर भी, मेरी मंगलकामनाएँ तुम्हारे साथ हैं।”

जगत को पत्र लिख कर मन को बड़ी शांति मिली। किन्तु रह-रहकर मन भटनागर के प्रति व्यग्र हो आता।

एक सप्ताह के बाद कामों से छुट्टी मिली। लौटते हुए रास्ते में पटने में रुक जाना पड़ा। जब लौटा, जगत श्रीवास्तव और अपर्णाजी का विवाह हो चुका था। मैंने भटनागर को सूचित कर दिया था। लेकिन मुझे यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि स्टेशन पर भटनागर के साथ-साथ अपर्णाजी भी उपस्थित थीं।

भटनागर ने मुझे देखते ही बाँहों में कसते हुए कहा—“सुनो, मैं कहता हूँ, इस बेहूदा नौकरी से इस्तिफा दे दो। नेपाल का पानी तुम्हें रास नहीं आता और तुम्हारी अनुपस्थिति में हम प्रायः अनायास-से हो उठते हैं।”

अपर्णाजी के सिंदूरतिलकित भाल और पीतवर्ण साड़ी और प्रणाम की मुद्रा में जुड़ी हुई अञ्जलि तथा भटनागर की पूर्ववत् सहजता से मैं विस्मित

ओ मत्स्यगंधा !

रह गया। मैंने अपर्णाजी को अनजाने मुस्कराते हुए स्वीकार कर भटनागर से कहा—“इन्हें क्यों व्यर्थ कष्ट दिया तुमने ?”

मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ जब मेरे उत्तर में भटनागर ने एक जोर का ठहाका लगाया। बोला—“जब किसी को स्वयम् कष्ट करना स्वीकार हो, तब मैं बाधक होना पसन्द नहीं करता। और फिर अपर्णा भाभी को तो तुम्हें रिसीव करने आकर प्रसन्नता ही हुई है।”

सुनकर मैं बिल्कुल विस्मयविमूढ़ रह गया। भटनागर में एक गहराई का आभास यदा-कदा मुझे मिला है, किंतु वह इतना गहरा है ! यह मेरे लिए एक सर्वथा नवीन अनुभव था। एक ही प्रश्न के उत्तर में उसने कितनी जिज्ञासाओं का समाधान कर देना चाहा था।

मैंने तनिक रुक कर, सहज हो आकर अपर्णाजी से पूछा—“जगत नहीं आया ? कहाँ है ?”

अपर्णा ने उत्तर में मुस्करा कर मेरी ओर देखा। बोली—“मुझे गृहिणी बनाकर दिल्ली चले गए हैं। कोई एक सप्ताह में लौटेंगे।”

भटनागर की कार बाहर खड़ी थी। सामान वगैरह ठीक रखकर मैं अपर्णाजी के पास पीछे की सीट पर आकर बैठ गया। अपर्णाजी ने कहा—“इस बार मेरे ही यहाँ चले चलिए न। इन दिनों तो आपका नौकर भी नहीं है। आपको वहाँ व्यर्थ ही कष्ट होगा।”

मैंने आश्चर्य से उनकी ओर देखते हुए कहा—“अच्छा, तो आप मेरे घर का पूरा हिसाब रखती हैं इन दिनों।”

अपर्णाजी ने मुस्कराते हुए कहा—“यही तो ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रमों का अन्तर है।”

मैंने भरसक इसका विरोध किया, किंतु इस बार अपर्णाजी के व्यक्तित्व में जाने कौन-सा तत्व विकसित हो गया था कि मेरा प्रत्येक तर्क पराजित

होता गया। विवश होकर मुझे अपर्णाजी का अनुरोध स्वीकार कर लेना पड़ा।

जगत श्रीवास्तव के मकान पर पहुँचते-पहुँचते रात के कोई ग्यारह बज गए। मुझे वहाँ छोड़कर भटनागर फिर सुबह आने का वायदा कर चला गया। एक छोटे-से कमरे में पहले ही से मेरे लिए सारी व्यवस्था की हुई थी। अपर्णाजी ने बड़े चाव से मेरे सामान यथास्थान लगाये। मैं चुपचाप कुर्सी पर बैठा उन्हें देखता रहा और उनके यहाँ अपनी इस अप्रत्याशित आतिथेयता पर सोचता रहा।

खाना खाकर जब मैं कमरे में वापस आया, अपर्णाजी फिर साथ-साथ आयीं। क्षण भर चुपचाप यों ही मेरे सामने बैठी रहने के बाद बड़े गंभीर स्वर में बोलीं—“इस विवाह से आपको आश्चर्य हुआ होगा?”

मैं मन की बात छिपा गया। बोला—“नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं।”

अपर्णाजी ने मुझे गौर से देखा जैसे कि वे ठीक-ठीक मुझे बूझना चाहती हों। बोलीं—“नहीं, कितना असंभावित था यह।” फिर मुझसे कोई उत्तर न पाकर क्षण भर रुक कर बोलीं—“सब कुछ बड़े वेग से, अनहोने ढंग से होता चला गया। अवश्य मेरे चरित्र में कोई विस्मय-तत्व है। इनसे विवाह करने का निश्चय करने के कुल चौबीस घंटे पूर्व मैंने भटनागरजी को अपनी शय्या पर स्वीकार किया था।”

मैंने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया। चुपचाप अपर्णाजी को देखता रहा। क्षण भर बाद अपर्णाजी एक झटके से उठ खड़ी हुई। बोलीं—“रात ज्यादा हो गई है। अब आप सो जाइए।”

सुबह देर से नींद टूटी। उठकर गुसल के लिए निकला तो देखा अपर्णाजी साड़ी का पल्ला कमर में कसे टेबल पर चढ़ी ड्राइंग-रूप की दीवार भाङ-बुहार रही थी और भटनागर एक टक उन्हें उलझा हुआ देख रहा था। मुझे देखते ही अपर्णाजी टेबल पर से उतर पड़ी और आश्चर्य-

ओ मत्स्यगंधा !

जनक रूप से सलज्ज हँसी हँसते हुए बोलीं—“उठ गए ! अभी तो भटनागरजी कह रहे थे कि आपकी सुबह जरा देर से होती है। ठीक है। गुसल कर लीजिए। चाय तैयार है।”

मैंने अपर्णाजी की बात का कोई उत्तर नहीं दिया। भटनागर मुझे बड़ा औपन्यासिक लग रहा था। ऐसे ही किसी व्यक्ति की हरिप्रसन्न के रूप में अपूर्ण कल्पना की गई थी। हरिप्रसन्न की अप्राकृतिकता से भटनागर की अप्राकृतिकता मुझे अधिक भंजक प्रतीत हुई। कोई अभिव्यक्ति कहीं ऐसी नहीं कि पूर्व का इतिहास प्रकट हो, गोपन दीख जाए।

अपर्णाजी ने नौकर को पुकार कर मुझे गुसलखाना बता देने का आदेश दिया। गुसलखाने से लौटते हुए मैंने सुना, भटनागर अपर्णाजी से कह रहा था—“आप यह मानिए, स्थितियों की संक्रामक चेतना से अभिभूत होना मैंने कभी स्वीकार नहीं किया। यदि यही होता तो मैं विश्रुङ्खल हो जाता।”

मैंने चाहा कि मैं कट जाऊँ, लेकिन भटनागर ने मुझे देख लिया था। वहाँ जाना ही हुआ। चाय लगी थी। चाय पीकर भटनागर शाम फिर आने का वायदा कर चला गया। मैं भी उठने ही वाला था कि अपर्णाजी सवाल कर बैठी—“आपको यह विचित्र नहीं लगता ?”

“क्या विचित्र नहीं लगता ?” मैंने अकचका कर प्रश्न किया।

“यही।”—अपर्णाजी ने कहा—“जगतजी से विवाह और भटनागर जी से यह सम्बन्ध।”

“नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं।” मैंने प्रश्न को टाल दिया।

“विचित्र तो है।”—अपर्णाजी ने कहा—“आपको लगे, न लगे।”

मैं उठ खड़ा हुआ। बोला—“अपने-अपने सोचने का दंग है। ऐसे यह इसका परिचायक है कि आप में परिवृत्त को ग्रहण करने की क्षमता है।”

कहकर मैं रुका नहीं, अपने कमरे में चला आया। कपड़े बदले और निकल पड़ा।

रात को सिनेमा से लौटते हुए भटनागर हमें पहुँचा कर चला गया ! मैंने खाना खाया और थके होने का बहाना कर अपर्णाजी से अलग होकर अपने कमरे में चला आया । लेकिन, नींद नहीं आयी । तरह-तरह के प्रश्न आ-आकर भँभोरते रहे । मैंने निश्चय किया—नहीं, यहाँ नहीं रहूँगा । कल जरूर अपने डेरे पर चला जाऊँगा ।

सुबह चाय पीते हुए मैंने अपना निश्चय अपर्णाजी के आगे प्रस्तुत किया । सुनकर क्षणभर वे चुप रहीं । जाने क्या सोचती रहीं । फिर बोली—“ठीक है । मैं बाधा नहीं दूँगी ।” कहकर अपर्णाजी उठकर चली गई ।

शाम को मैं सामान के साथ अपने डेरे पर आ गया । भटनागर के साथ-साथ अपर्णाजी भी मुझे छोड़ने आयीं, किन्तु तुरन्त ही भटनागर को लेकर वापस चली गई ।

अपने डेरे पर वापस आते ही फिर मुसीबत आ गई । पटने से पिताजी का तार मिला और रात की गाड़ी से मुझे चल देना पड़ा । यहाँ तक कि भटनागर को भी सूचित न कर सका । कोई दो सप्ताह मुझे पटने में रुक जाना पड़ा । माँ की तबीयत खराब थी, वैसी हालत में उन्हें छोड़कर आना सम्भव न हो सका ।

कोई दो सप्ताह बाद मैं लौटकर आया, मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि मेरा नौकर वापस आ गया था । काफी रात हो गई थी । मैंने नौकर को खाना बनाने से मना कर दिया और सिर्फ चाय पीकर सो जाने की इच्छा प्रकट की ।

थोड़ी देर में चाय का प्याला मुझे देते हुए नौकर ने कहा—“परसों एक बीवीजी आपके नाम एक खत दे गई थीं । वहाँ टेबल पर पड़ा है ।”

मैं चाय पीने में व्यस्त हो गया । वह मेरा बिस्तर ठीक करने लगा । सहसा चादर की सलवटे ठीक करते ही बीच ही में उसने रुक कर कहा—

ओ मत्स्यगंधा !

“और परसों जगत बाबू आपको ढूँढ़ने आए थे । सुना, उनकी बीवी ने कल जहर खा लिया ।”

यकायक अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ । सारे बदन में एक भुरभुरी-सी दौड़ गई । लगा, हाथ से चाय का प्याला छिटक कर जमीन पर गिर जायगा । मैंने चाय का प्याला नौकर को थमाते हुए भटके से उठकर टेबल पर पड़ा नीले रंग का लिफाफा उठा लिया । अपर्णाजी का था । धड़कते दिल से मैंने पढ़ना शुरू किया । उन्होंने लिखा था—“मैंने नहीं रोका, जब आप चले गए । किन्तु, सोचती हूँ, एक दिन रोक लेती तो शायद आपसे वह सब कह सकती, जिन्हें कहने के लिए मैं आपको सानुरोध अपने घर ले गई थी । तब, सम्भव था, आपसे, आप के सहयोग से कोई राह निकल आती ।...मैंने भटनागरजी के प्रतिकूल जगतजी से विवाह किया । जाने क्यों भटनागरजी को अपनी शय्या पर स्वीकार करने के बाद मेरा मन भिन्न महत्व का याचक हो आया । जगतजी की कठोरता, असम्बद्धता, उनका आद्योपांत पुरुष मुझे अधिक स्वीकार्य प्रतीत हुआ । मैंने उनसे विवाह किया । किन्तु, मुहागरात को जगतजी की शय्या पर अपने को अर्पित करते हुए मुझे एक विचित्र प्रतीत हुई । लगा, मुझसे कोई भूल हो गई है । भटनागरजी से भिन्न इस पुरुष की अंगता में मुझे कोई विशेष सार्थकता नहीं मिली । सुबह हुई और जगतजी से मेरा व्यक्तित्व विच्छिन्न हो गया । संभवतः जगतजी ने इसे लक्ष्य किया और मुझे मौका देने के लिए आवश्यक कार्य का बहाना कर दिल्ली चले गए । मैंने इसे भी स्वीकार किया । भटनागरजी के साथ मेरी दैहिक अनुभूति तीव्रतर होती गई । यों, मैं विश्वास दिलाती हूँ, भटनागरजी ने विवाह के बाद बड़े सहज भाव से इस नए सम्बन्ध की पवित्रता का निर्वाह किया । किन्तु, मेरे लिए यह निरन्तर असह्य होता गया । जिस महत्वाकांक्षा की तृप्ति के लिए मैंने कभी भटनागरजी को अस्वीकार किया था, वह मुझे निरन्तर निरर्थक प्रतीत होती गई । और

अंत में मैंने तय किया कि इस पत्नीत्व की मर्यादा का भंजन करूँगी, भटनागरजी को 'सिङ्घसू' करूँगी।.....वह रात आयी। मैंने वह किया। कितना भिन्न था पूर्व के उस शय्या-सहवास से यह शय्या-सहवास ! उसके बाद से, उसी क्षण से मैं आत्मच्युत होती जा रही हूँ। जगतीजी लौट कर आएँगे। मैं आपसे यही पूछना चाहती थी—मैं उन्हें क्या दूँगी ?..... खैर। अब आपके उत्तर की आवश्यकता नहीं होगी। मैंने स्वयम् से मुक्ति का मर्म पा लिया है। बस, क्षमा कर दीजिएगा।.....”

पत्र पढ़कर मैं स्तंभित रह गया। उसी वक्त दौड़ा हुआ भटनागर के घर गया। वह वहाँ नहीं था। जाने क्यों जगत श्रीवास्तव से मिलने का साहस नहीं हुआ। मैं, बस, भटनागर से मिलना चाहता था और बहुत दिनों पहले के प्रश्न के उत्तर में कहना चाहता था—हाँ, अपर्याजी की प्रत्याकृति साहित्य में नहीं मिलेगी। वे सुनीता से आगे गई थीं, किन्तु विष उन्हें अधिक सुविधापूर्ण हुआ।



मृत्यु नहीं

[...वेकिंग और एस्कीप दाउ ऑफ डेथ मस्ट सी थिंग्स मोर डू एंड
डीप दैन वी मोरटल्स ड्रीम, और हाउ कुड दार्ई नोट्स फ्लो इन सच ए
क्राइस्टल स्ट्रीम...]

नीरू की माँ ने बगल के कोठे से आवाज दी—“राजू बेटा !”

“मैं आवाज सुनकर कमरे से बाहर आ गया। पूछा—“क्या है काकी ?”

नीरू की माँ ने बड़े घबराए स्वर में कहा—“जरा एक मिनट को आ जाओ बेटा, बड़ी मुश्किल में पड़ गई हूँ।”

“मैं आगे सवाल करना ही चाहता था कि नीरू की माँ उतर कर नीचे अपने कमरे में चली गई। मैंने कमरे में आकर कमीज पहनी और उनके पास जा पहुँचा। देखा, नीरू चारपाई पर विवर्ण पड़ी कराह रही थी और काकी उसके पायताने बैठी उदास, उतरी-उतरी-सी एकटक उसे निहार रही थी।

“क्यों, क्या बात है ?” मैंने नीरू के ललाट को स्पर्श करते हुए सवाल किया।

“कुछ समझ मैं नहीं आता”—नीरू की माँ ने एकटक नीरू को देखते हुए कहा—“जाने क्या हो जाता है इसे ? कहाँ नहीं ले गयी, किस

ओ मत्स्यगंधा !

डॉक्टर-वैद्य को नहीं दिखलाया ? कुछ पता नहीं चलता । अच्छी-भली रहती है, फिर यकायक पेट में बड़े जोरों का दर्द शुरू हो जाता है । कई-कई दिन लग जाते हैं । प्रत्येक पल लगता है, भविष्य के बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता ।”

नीरू व्यथा से नीली पड़ी आँखें मूँदे पड़ी थी । मैंने फिर एक बार उसके ललाट को स्पर्श किया और काकी को धीरज बँधाने के लिए कहा—
“खैर, घबराने की जरूरत नहीं । मैं अभी डॉक्टर को लेकर आता हूँ ।”

काकी चुपचाप नीरू को देखती रही, मेरे उत्तर में कुछ न बोलीं । नीरू ने एक बार अपनी बड़ी-बड़ी पलकें खोलकर बड़ी विचित्र कातर जिज्ञासा की दृष्टि से मुझे देखा और फिर उन्हें बन्द हो जाने दिया । मैं कुछ देर तक चुपचाप वहाँ खड़ा रहा, फिर डॉक्टर को बुलाने से लिए चल पड़ा ।

डॉक्टर को लेकर लौटा तो करीब-करीब रात हो गई थी । बल्ब की रोशनी में नीरू का गोरा रंग व्यथा की तीव्रता के कारण कुछ और नीला लगा । गत दो वर्षों से इस नीरू को देख रहा हूँ, अर्थ की अभिधा में अनेक क्षणों में इसका सहचर रहा हूँ, इसके परिवार का अन्तरंग होकर हूँ, किंतु ऐसी अव्याख्येय अनुभूति से तो कभी परिचित नहीं हुआ । डॉक्टर नीरू की परीक्षा करता रहा और मैं मन में अस्त-व्यस्त हुआ-सा कहीं अन्यत्र अंकित होता रहा ।

डॉक्टर ने मेरा कंधा थपथपाते हुए कहा—“आओ ।”

मैं मन से लौट आकर उसके साथ बाहर बरामदे पर आ गया । डॉक्टर ने कहा—“सुनो, रोग तो पता नहीं चला । शायद कोई एलर्जी हो । फिलहाल सोने की दवा दे देता हूँ, नींद आ जाए तो बेहतर । लेकिन, जरा वाच करना होगा । लगता है, हार्ट पर प्रेसर पड़ रहा है । हार्ट-फेलियोर ऐसे रोगियों के लिए असम्भव नहीं है ।”

दवा की टिकिया खिलाकर मैं नीरू के सिरहाने चुपचाप बैठ गया । काकी ने मेरी ओर देखते हुए पूछा—डॉक्टर ने क्या कहा ?”

“कहा, अच्छी हो जायगी ।” मैंने दूसरी ओर देखते हुए कहा ।

“हाँ, अच्छी हो जायगी ।” काकी ने भर्राए हुए स्वर में ऐसे कहा, जैसे स्वयं से बोल रही हों—“रोग का किसी को पता नहीं चलता, मगर दाढ़स बँधाने को सब कहते हैं—जरूर अच्छी हो जायगी ।”

काकी की सांत्वना के लिए मैं कुछ कहने ही जा रहा था कि अनुभव हुआ, भीतर कुछ व्याकुल हुआ जा रहा है । कंठ रूँधता हुआ-सा लगा । क्षण भर बाद बड़ी मुश्किल से अपनी भावना को वश में करते हुए मैंने कहा—“नहीं, सच, नीरू जरूर अच्छी हो जायगी ।”

काकी सुन कर चुप रह गई । अपनी अन्तर्गत वेदना में घुली-सी बैठी रहीं । नीरू को नींद आ गई थी । मैंने उठकर चप्पल पाँव में डालते हुए कहा—“दरवाजा बन्द न करना, मैं तुरन्त ही आ जाऊँगा ।”

अपने कमरे में लौट आकर मैंने नौकर को आवाज दी, खाना लाने के लिए कहा । लेकिन खाया नहीं गया । नीरू मेरी कोई नहीं है । उसकी माँ मेरे प्रति प्रीतिमान है । काकी की आत्यंतिक निश्छल सरलता और प्रीति से ही उस परिवार से किंचित् जुड़ा हुआ हूँ । नीरू के प्रति मेरे मन में कभी कोई भाव जमा हो, याद नहीं । उससे कभी बहुत खुल कर आलाप किया हो, याद नहीं । डाक्टर ने कहा, “नीरू मर जायगी ।”

बहुत दिनों पूर्व एक कविता पढ़ी थी—एंट डेथ इज़ आन द एअर लाइक ए स्मेल ऑफ ऐशेज । आह, कान्ट यू स्मेल इट ? एंड इन द ब्रुइज्ड बडी, द फ्राइटिन्ड सोल फाइन्ड्स इटसेल्फ थिंकिंग, विंशिंग फ्रॉम कोल्ड दैट ब्लोज अपॉन इट थू द आपरफीसेज ।.....

मुझसे खाया नहीं गया । मुझे मृत्यु अच्छी नहीं लगती ।

काकी वैसे ही नीरू के पायताने बैठी थीं । नीरू अब भी गहरी नींद

ओ मत्स्यगंधा !

में थी । मैंने काकी का कंधा छूकर कहा—“जाओ, खा लो । मैं यहाँ बैठा हूँ ।”

काकी नहीं उठी । मैंने फिर आग्रह किया । काकी ने बड़ी व्यथित दृष्टि मुझ पर डालते हुए कहा—“खाने को बिल्कुल जी नहीं चाहता ।”

“नहीं, ऐसे कैसे होगा ? मैं तो हूँ ही ।”—मैंने काकी के कंधे पर हाथ रखते हुए कहा—“नीरू को कुछ नहीं होगा ।”

काकी ने मेरी ओर देखा और उठ खड़ी हुई । नीरू के सिरहाने आकर खड़ी हो गई । झुक कर नीरू के मुख-को गौर से देखा और बोली—“अच्छा ।”

काकी चली गई । नीरू का वक्ष सांसों के साथ उठता-गिरता है । मैं तनिक दूर हट कर दीवार के पास पड़े इज्जीचेयर पर बैठ गया ।

काकी तुरन्त ही लौट आई । मुझे अचरज हुआ । मैंने जिज्ञासा की—“खा लिया ।”

काकी फिर पूर्ववत् नीरू के पायताने बैठ गई । बोली—“खाया नहीं गया ।”

मैं चुप । मुझसे भी नहीं खाया गया ।

मैंने उठ आकर नीरू के सिरहाने बैठते हुए कहा—“ज्यादा चिन्ता करती हो, काकी । मैंने कहा न, नीरू जरूर अच्छी हो जायगी ।”

काकी उत्तर में कुछ न बोली । मेरी ओर एक ही साथ आशीर्वाद और अविश्वास की दृष्टि से देखा ।

लेकिन, नीरू क्यों अच्छी हो जायगी ? मुझमें आस्था जगती है ।—ओह, सी द वियरी लीड्स ऑफ वेकफुल होप...टु कैच द बेब्रेक आफ दैड डॉन ।—सासों के साथ नीरू का वक्ष उठता-गिरता है ।

पलकें झपक गई थीं । शायद । काकी ने कंधा थपथपाते हुए कहा—

“जाओ, अब घर जा कर सो जाओ, थोड़ी देर में सुबह होगी। कल कालेज भी तो जाना होगा।”

मैंने उठते हुए कहा—“कालेज की चिन्ता न करो, कल देर से जाना है।”

अपने कमरे में लौट आकर बिस्तर पर लेटा तो सहसा एक झटका लगा। यह मैं हूँ—भावुक, कातर, स्वयम् पर विश्वास न हुआ। इतना-सा परिचय और इतनी सम्पत्ति! मन-ही-मन तय किया, अब नीरू की दिशा में उन्मुख होना नहीं है। मन में सन्तुष्ट हुआ, यह निश्चय अच्छा किया। आखिर काकी या नीरू से क्या? पड़ोस के सम्बन्ध की एक सीमा होती है, वहीं तक उचित है।

नींद टूटी तो जाने कैसी विचित्र-सी अनुभूति हुई। लगा कि ऋतु-परिवर्तन हुआ है।—तुम आ गए क्वार?

करवट बदल कर उठा ही था कि ठगा-सा रह गया। क्वार की संध्या में इतना रेशम कहाँ से आया? नीरू मनोयोगपूर्वक मेरी किताबों की एक आल्मारी का निरीक्षण कर रही थी। मैंने विस्मित स्वर में जिज्ञासा की—“आप?”

नीरू मुड़ी। मुझे पल भर देखा। बोली—“हाँ, धन्यवाद करने चली आयी आपको।”

मुझे अच्छा लगा। मैंने उठते हुए कहा—“धन्यवाद काहे का? आप अच्छी हो गईं, यही बहुत है।”

कहकर मैंने नीरू को देखा। यह रोगिणी है, कौन कहेगा? कल डॉक्टर कहता था—

यकायक नीरू ने सवाल किया—“क्या देख रहे हैं आप?”

“देख रहा हूँ—” मैंने कहा—“कौन मानेगा कि कल रात आपने हमें चिंतित कर दिया था।”

ओ मत्स्यगंधा !

नीरू ठठाकर हँस पड़ी। बोली—“हर मरनेवाला रोगी कुछ ऐसा ही विचित्र लगता है।”

मन के सुख को जैसे एक शॉक लगा। मैंने कहा—“छिः, ऐसा नहीं सोचा करते। डॉक्टर तो कहता था, आपको कुछ हुआ ही नहीं। बस, यों ही—”

नीरू पलंग की पाटी पर बैठ गई। उसके हाथ में आलमारी से निकाली हुई एक किताब थी। पल भर रुक कर उसने कहा—“जाने क्यों, ये डाक्टर झूठ बोलते हैं। मैं सब कुछ जानती हूँ, फिर भी मुझसे भी झूठ बोलते हैं। अब तो इस रोग का सच ही मेरे लिए स्वाभाविक है, झूठ अच्छा नहीं लगता।”

बैंकिंग और एस्लीप दाउ ऑफ बेथ मस्ट सी थिंग्स मोर ट्रू ऐंड डीप दैन वी मोरटल्स ड्रीम, और हाउ कुड दार्ई नोट्स फ्लो इन सच ए क्राइस्टल स्ट्रीम.....

मैं खिड़की के समीप जा खड़ा हुआ। बाहर के अधिक आलोकित प्रसार में कोई कथ्य नहीं मिला। मैंने मुड़ कर देखा नीरू किताब के पृष्ठों में खो गयी थी। मैंने टोकना उचित नहीं समझा। चुपचाप कमरे से बाहर की ओर चल पड़ा।

दरवाजे तक पहुँचा ही था कि नीरू ने कहा—“सुनिए, यह मैं ले जाऊँ ? पढ़कर लौटा दूँगी।”

मैंने मुड़ते हुए पूछा—क्या ?

“यह क्रिश्चिना रोजेटी का संग्रह।” नीरू ने किताब दिखाते हुए कहा।

“आप कविताएँ पढ़ती हैं ?” मैंने आश्चर्य से नीरू को देखते हुए प्रश्न किया।

“हाँ, कविताएँ मुझे बहुत प्रिय हैं।” नीरू ने मेरी ओर देखते हुए

कहा—“बी० ए० की परीक्षा में कविताओं के पत्र में बहुत अंक प्राप्त हुए थे। सोचा था, एम० ए० करूँगी, फिर डाक्टरेट। खैर, यहाँ तो दिन भर घर में पड़े रहना, बस, पढ़ने को तो कुछ मिलता नहीं। फिर तनिक रुक कर मुस्कराते हुए कहा—“लेकिन, अब आपका घर देख लिया है।”

मैंने मन-ही-मन आश्चर्य व्यक्त करते हुए आगे जिज्ञासा की—“कब किया आपने बी० ए० ?”

“पाँच साल हो गए—नीरू ने तनिक उदास स्वर में कहा—“सन् वावन में। फिर डॉक्टरों ने आगे पढ़ने न दिया।”

“अरे !” सहसा मेरे मुँह से निकला—“सहसा विश्वास नहीं होता कि आपने मेरे साथ बी० ए० किया।”

नीरू खिलखिलाकर हँस पड़ी। बोली—“आज की नहीं हूँ मैं, हाँ।”

मैं भी नीरू के साथ खिलखिलाकर हँस पड़ा। थोड़ी देर बाद नीरू चली गई। नीरू में उम्र नहीं है, आयु नहीं है—नीरू मात्र कांति है। डाक्टर झूठ बोलते हैं।

कुछ व्यस्त रहा, बाहर-बाहर ही रहना हुआ। तीसरे दिन शाम को कालेज से लौट कर कपड़े बदल कर बैठा ही था कि नीरू आ पहुँची। बोली—“कहाँ रहते हैं आप राजू बाबू, आपकी अनुपस्थिति में ही दो बार किताबें बदल कर ले गई।”

मैंने सामने पड़ी कुर्सी पर बैठने का इशारा करते हुए कहा—“बैठिए। बहुधंधी जीव हूँ। फँस गया था।”

नीरू बैठ गई। सफेद रेशमी साड़ी का काला किनारा बड़ा अच्छा लगता है। मुझसे और आगे नहीं देखा गया।

सहसा नीरू ने उठते हुए कहा—“देखिए, आज कहीं जाइएगा नहीं। सिनेमा का प्रोग्राम बनाया है।”

मैं सुनकर विस्मित रह गया। मुझसे नहीं हुआ, तीन दिनों के तनिक

ओ मत्स्यगंधा !

निकट परिचय के आधार पर नीरू ने मुझे निमंत्रित किया। मुझसे कुछ कहते न बन पड़ा, बस, भीतर से रागाकुल विश्वास का अनुभव करते हुए स्वीकृति में सिर हिला दिया। नीरू ने आल्मारी से फिर कोई कविता की किताब निकाली और साधिकार उसे लेकर चली गई।

घंटे भर बाद नीरू आई।—वही साड़ी वही काला किनारा, किन्तु तनिक अधिक सँवरी-निखरी। विश्वास नहीं हुआ, इसी नीरू को गत तीन वर्षों से मैं देख रहा हूँ। यह नीरू तो सर्वथा अपरिचित है—मुझको आद्योपांत अज्ञात।

नीरू ने इस तरह स्वयम् को देखा जाता पाकर तनिक लजाए स्वर में कहा—“चलिए न, क्या देख रहे हैं ?”

आमि घरा दियेछि गो आकाशेर पाखी, नयने देखेछि तब नूतन आकाश। दूखानि आँखिर पाते की रेखेछि दाकि, हाशिले फुटिया पड़े उषार आभास।

मैंने कहा—“नहीं, कुछ नहीं, चलिए।”

इंटरवल में नीरू ने मुझे टोका—“क्या बात है, देखती हूँ, आप बहुत खोए-खोए-से हैं।”

मैंने नीरू का मन रखने के लिए उत्तर दिया—“भविष्य की आकृति गढ़ रहा हूँ, मगर जाने कैसे बीच ही में टूट जाती है।”

नीरू बड़े निरर्थक ढङ्ग से मुस्करायी। बोली—“मैं तो आधुनिक शिल्पी को पसंद करती हूँ। जो अंग टूट जाता हो, उसे दोबारा गढ़िए ही नहीं।”

नीरू।

लौटते वक्त नीरू ने फिर टोका—“जानती कि यह फिल्म अपनी ट्रेजेडी से आपको व्यथित करेगी, तो आपसे निवेदन नहीं करती।”

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। रास्ते में खामोशी रही। नीरू मेरे साथ-

साथ मेरे कमरे में चली आयी। मैंने नौकर को आवाज देकर नीरू से पूछा—“चाय पियेंगी?”

“पी लूँगी।” नीरू ने कहा और सामने की कुर्सी पर बैठ गई। क्षण भर चुपचाप मुझे देखते रहने के बाद सहसा उसने अपनी आँखें दूसरी ओर हटा लीं। बोली—“कल फिर जाना है न लखनऊ। फिर आपरेशन होगा। पता नहीं, कितने दिन लगें। या कौन जाने मैं वहाँ से लौटूँगी भी या नहीं। इसीलिए, सोचा, आज आपको जी भर तंग कर लूँ।”

मैंने अनुभव किया, कहते-कहते नीरू का स्वर भर आया। जाने एक कैसी अपरिचित वेदना का अनुभव मुझे हुआ।

बड़ी कठिनाई से अपनी भावना को छिपाते हुए मैंने कहा—“आप इतनी हताश क्यों हैं? आप जरूर अच्छी हो जाएँगी। इस बार आपका आपरेशन जरूर कामयाब रहेगा।”

“कौन जाने”—नीरू ने बिना मेरी ओर देख उत्तर दिया—“लेकिन, इस बार कुछ होगा जरूर। अपने ही जीवन के प्रति इतनी समृक्ति, इतने विरह का अनुभव इसके पूर्व मुझे कभी नहीं हुआ।”

मुझसे कुछ कहते न बन पड़ा। तनिक रुक कर नीरू ने आगे कहा—“सच, कहती हूँ, आपसे छिपाऊँगी नहीं और सोचती हूँ, अब किसी से छिपाना भी क्या इसीलिए सोचा है, इस बार जाने के पूर्व सबसे मन की बात कह जाऊँगी। आपसे सदैव मैंने एक बड़ी कातर समृक्ति का अनुभव किया है। यदि मैं योग्य होती, तो अपने लिए पुरुष के रूप में जिसकी कामना करती, उसकी आकृति के दर्शन मैंने आप में किए हैं।”

तनिक रुक कर नीरू ने फिर आगे कहना शुरू किया—“बहुत बच्ची थी मैं, जब मुझे यह अज्ञात रोग हुआ। कई बार आपरेशन हुए, जाने कितना इलाज हुआ। मैं भी उम्र के साथ-साथ जीवन में तटस्थ होने-सी चेष्टा करने लगी। एक बार एक डाक्टर ने कहा—“शायद विवाह के बाद

ओ मत्स्यगंधा !

मैं रोगमुक्त हो जाऊँ । गर्भ धारण करके यदि मैं मर न गई तो निरोग हो जाऊँगी । मैं जानती हूँ, डॉक्टर ने झूठ कहा था, मगर माँ की निरन्तर चेष्टा और मेरे योग्य वर की चिन्ता ने मेरे सुलाए सपनों को फिर जगा दिया । कौन मुझे से विवाह करता ? अर्थी पर सुलाकर बाहर ले आने के लिए कोई मुझे डोली पर बिठाकर क्यों ले जाता ? सबने अंत में हन्कार कर दिया । मैंने माँ को समझाया । स्वयम् को मनाया । इसी बीच आप आए । आपका आना मुझे बहुत अच्छा लगा, इसीलिए मैंने सदैव आपको अपने परिचय से तटस्थ रखा । किन्तु.....

नीरू ने मेरी ओर देखा और चुप हो गई । उसकी आँखों में आँसू गिर रहे थे । यकायक मेरी ओर देखते-देखते वह उठी और तेज कदमों से चली गई । मैं स्तब्ध उसे देखता रह गया, चाय के लिए रुकने के लिए भी न कहा जा सका ।

रात भर मैं बिस्तर पर पड़ा-पड़ा सोचता रहा । रह-रहकर मेरा जी भर आता और ऐसा लगता कि मेरे मन में व्यथा का कोई गोपन पर्वत है, जो पिघल रहा है । कुल चार दिनों पूर्व नीरू के यहाँ से लौट आकर मैंने सोचा था, यह मैं हूँ भावुक, कातर ? अवश्य कहीं कुछ अवश्यम्भावी था, अन्यथा यह कैसे सम्भव हुआ !

सुबह हो गई तो उठा और मुँह-हाथ धोकर फिर आकर कमरे में बैठ गया । कुछ मुझमें बड़े वेग से आंदोलित हो गया था । कहीं शांति नहीं मिल रही थी । मैं उठकर खिड़की के समीप आ खड़ा हुआ । बाहर मैदान में कुछ छोटे-छोटे बच्चे शोर मचाते हुए खेल रहे थे । अनायास ही मैं गुनगुनाने लगा । द स्ट्रीट्स वर पेव्ड विथ गोल्डेन स्टोन्स, द न्वाइज एण्ड गर्ल्स वर माइन । ओ हाउ डिड आल देयर लवली फेसेज शाइन ।— न्वाइज एण्ड गर्ल्स वर माइन । नीरू ! ओ नीरू !! मृत्यु नहीं ।

मैंने कमीज बदल कर डाली और नीरू के यहाँ जा पहुँचा । काकी

आँगन में बैठी तरकारी छील रही थीं और बरामदे पर लगे बड़े-से आईने के सामने खड़ी होकर नीरू अपने बाल सँवार रही थी ।

मैं क्षण भर नीरू के बड़े-बड़े घने काले बालों को देखता रहा, फिर काकी के पाँव की ओर झुकते हुए कहा—“जानता हूँ, काकी, तुम नीरू के लिए मुझे अस्वीकार नहीं करोगी । आशीर्वाद दो ।”

इसके पहले कि काकी स्थिति को समझ सकें नीरू ने मुझे विस्मित आँखों से देखा और चीत्कार के-से स्वर में कहा—“नहीं, माँ, नहीं ।”

मैंने काकी के पाँव पकड़ते हुए कहा—“हाँ, कहो काकी, हाँ कहो । मैं जानता हूँ, नीरू नहीं मरेगी ।”

काकी के काँपते हाथों का सिर पर स्पर्श अनुभव करते हुए मैंने नीरू की ओर देखा । उसकी आँखों में व्यथा, व्याकुलता और अश्रु का ऐसा संयोग मैंने पहले कभी नहीं देखा था ।



श्री मत्स्यगंधा

[...जी में आया कि उठूँ और भगवान् को पुकार कर कहूँ—‘सुनो, मुझे कुछ न दो। तुम अन्तर्यामी हो, मुझे कुछ चाहिए भी नहीं। बस, इस नदी को असीम कर दो, इस यात्रा को अन्तहीन कर दो।’...]

स्टीमर खुल गई थी। यात्रियों की विशाल संख्या घाट की रेत पर उतर कर फैल गई थी। परन्तु, यात्रा करते-करते मैं कुछ ऐसा थक गया था कि वहाँ एक पल भी रुकने को तैयार नहीं था। कुली सिर पर सामान लिए खड़ा था। मैंने एक बार अस्त-व्यस्त भीड़ को देखा और मन-ही-मन निश्चय करते हुए कुली से कहा—“चलो, नाव से उस पार चलेंगे।”

मुश्किल से एक छोटी-सी नाव मिली। उस पर सामान रखवा दिया और खड़ा-खड़ा माभी की तैयारियाँ देखने लगा। थोड़ी देर बाद उसने मुझे पुकार कर नाव पर बैठ जाने का संकेत किया और खूँटे से नाव की गैठ खोलने आगे बढ़ गया। जब वह हाथ में रस्ती का सिरा लपेटते हुए लौटा, तो इस बार उसके साथ एक महिला भी दीख पड़ी।

मेरी उत्सुकता को तृप्त करते हुए माभी ने कहा—“यह भी उस पार जाना चाहती हैं। कहती हैं, जरूरी है। आप कहिए, तो इन्हें भी बैठा लूँ।”

मैंने कहा—“आ जाने दो।”

लेकिन वे आगे नहीं बढ़ीं। शायद मुझे देखकर संकोच में पड़ गईं।

ओ मत्स्यगंधा !

मेरा उत्तर सुनकर भी वह वैसे ही खड़ी रही। मैंने उनके संकोच को तोड़ने के खयाल से कहा—“आ जाइए। देर हो रही है। चले चलेंगे, तो बत्ती जलते पहुँच जायँगे।”

सुनकर भी वह वैसे ही खड़ी रही। लगा, स्वयम् को तौल रही हैं। किन्तु तुरन्त ही फिर मन को बाँधकर आगे बढ़ आई। अब, इतने निकट आ जाने पर मैंने लक्ष्य किया कि उनके हाथ में चमड़े का एक छोटा-सा सूटकेस भी है। मैंने उठकर उनके हाथ से वह सूटकेस ले लिया। उन्होंने ले लेने दिया। उसे अपने सामान के करीब रखकर मुड़ कर देखा तो वे वैसे ही नाव से लग कर खड़ी थीं और माभी उनके चढ़ जाने की प्रतीक्षा कर रहा था। मैंने अनजाने ही सहारे के लिये अपना हाथ बढ़ाते हुए कहा, “आ जाइए।”

क्षण भर वे बड़ी सहमी-सकुचाई-सी मेरे बड़े हुए हाथ पर दृष्टि जमाये खड़ी रहीं, फिर स्वयम् को निज से तटस्थ करते हुए उसे ग्रहण किया और आई। मैंने अपने होल्डॉल की ओर संकेत करते हुए कहा—“बैठ जाइए।”

“नहीं, ठीक है।” वे बोलीं और नाव के दूसरे सिरे पर जाकर विपरीत दिशा की ओर होकर बैठ गईं।

माभी नाव को ठेलकर ऊपर आ गया था। उसने मेरी ओर देखते हुए कहा—“हवा एकदम नहीं है। खेकर ही ले चलना होगा। आप ठीक से बैठ जाइए न।”

मैंने उत्तर में कुछ कहा नहीं, होल्डॉल खोल कर बैठ गया। नाव किनारे से कोई बीस हाथ दूर बढ़ आई थी और लहरों के हिंडोलों का अनुभव होने लगा था। मैंने होल्डॉल से पाँच-सात पत्रिकाएँ निकालीं और उन्हें उलट-पुलट कर देखने लगा। तभी सुना, माभी उनसे कह रहा था—“बीबीजी, उधर ही बैठिये न, यहाँ तो पतवार से चोट लग जाएगी।”

मैंने पत्रिकाएँ रख दीं। देखा, वे बड़े अनमने भाव से उठीं और मेरी ओर आकर खड़ी हो गईं। मैंने होल्डॉल से उठते हुए कहा—“आप यहाँ बैठिये। मैं वहाँ किनारे बैठ जाऊँगा।”

“नहीं, नहीं, ठीक है।” कह कर वे वहीं किनारे की पाटी पर बैठ गईं। यह मेरी संस्कारगत सभ्यता का अपमान था, मुझे बुरा लगा। चुपचाप फिर होल्डॉल पर बैठ गया और पढ़ने के लिए बड़े अनमने भाव से अँग्रेजी की एक पत्रिका उठा ली। लेकिन, पढ़ा नहीं गया। मैं एकटक डूबते सूरज को देखता रहा।

सहसा नाव पर डूबते सूरज की लाल किरणों की व्याप्ति से मन आक्रांत हो आया। कुछ दिनों पूर्व पढ़ी एलिजाबेथ बिशॉप की कविता ‘कैसाबियांका’ की पंक्तियाँ मन में गूँज उठीं। जाने कैसे इस परिस्थिति से कविता की आंतरिकता न जुड़कर भी प्राणों में पैठती चली गई। सच, कितनी विचित्र कल्पना है : Love’s the boy stood on the burning deck...

जाने कब तक ऐसे ही कविता की पंक्तियों से गुंजित होता रहता, लेकिन सहसा इस आभास के साथ कि कोई मुझसे कुछ कह रहा है, मेरा ध्यान टूट गया। मुड़कर देखा तो वे पत्रिकाओं की ओर इशारा करते हुए कह रही थीं—“एक दीजियेगा ?”

मैंने सारी-की-सारी पत्रिकाएँ उनकी ओर बढ़ा दीं सिर्फ मेरे हाथ की अँग्रेजी पत्रिका रह गई। मैं उसे फिर उलट-पुलट कर देखने लगा, लेकिन जी नहीं लगा। माभी नाव को लहरों के सहारे छोड़कर कोयले का छोटा-सा चूल्हा जलाने की तैयारी कर रहा था ! मैंने जी लगाने के लिये उससे प्रश्न किया—“क्या बनाओगे अभी ?”

माभी ने जलती चिपड़ियों पर कोयला रखते हुए कहा—“बनाना क्या है ! रोटियाँ घर से ले आया हूँ। बर, थोड़ी मछली तल लूँगा। कह कर वह उठा और पटरियों के नीचे से जाल में फँसी पाँच-सात छोटी-छोटी

ओ मत्स्यगंधा !

मछलियाँ निकाल लाया। उसके बाद जो वीभत्स दृश्य उपस्थित होने को था, उसे न देखने के ख्याल से मैंने जब नजर दूसरी ओर घुमायी, तो उन पर जा पड़ी। वे पत्रिकाओं को हाथ में लिये सम्भवतः मुझे ही देख रही थीं, क्योंकि नजर घुमाने की प्रक्रिया में कुछ ऐसे आकस्मिक दंग से हमारी आँखें मिलीं कि दोनों को ही ध्वराकर नजर फेर लेनी पड़ी। क्षण भर बाद प्रकृतस्थ होकर जब मैंने फिर उनकी ओर देखा, तो एक को रख कर बाकी पत्रिकाएँ मुझे लौटाते हुए वे कह रही थीं—“आप दक्षिण की कोई भाषा नहीं जानते क्या ?”

मुझे यह अच्छा लगा। मैंने हल्के मुस्कराते हुए जिज्ञासा की—
“क्यों ?”

“इसलिए कि उत्तर की तो सारी भाषाओं की पत्रिकाएँ आपके पास हैं, लेकिन दक्षिण की नजर नहीं आई।” वे बोलीं।

यह मुझे और भी अच्छा लगा। मैंने किंचित् निकटता का अनुभव करते हुए कहा—“लेकिन यही सवाल दूसरे दंग से आपसे भी तो किया जा सकता है। आप जानती तो हैं कि ये पत्रिकाएँ दक्षिण की भाषाओं की नहीं हैं।”

वे मुस्करा कर चुप हो गयीं और दूसरी ओर देखने लगीं। मैंने लक्ष्य किया, उन्होंने अपनी चप्पल निकाल कर बगल की पाटी पर रख दी थी और पाँव पानी में डाल दिए थे। सहसा मेरी आँखों के आगे नाव के पाँव के समीप तिरती सफेद मछलियों का चित्र उभर आया और तब मैंने पहली बार गौर किया कि मेरे इतने निकट, इतने तटस्थ भाव से बैठी और इतने आकस्मिक दंग से परिचित हो आईं स्त्री का रंग गोरा है और वह मात्र स्त्री ही नहीं है, युवती भी है और एक हद तक रूपवती भी। मुझे यह अनायास अनुभव बढ़ा सुखद लगा। जी में आया कि उठूँ और भगवान् को पुकार कर कहूँ ‘सुनो, मुझे कुछ न दो। तुम अन्तर्यामी हो, मुझे कुछ

चाहिए भी नहीं। बस, इस नदी को असीम कर दो, इस यात्रा को अन्त-हीन कर दो।’

तेल की भाग और उसकी कड़कड़ाहट से उधर उन्मुख होकर देखा कि माभी ने चूल्हे पर अपनी छोटी-सी कड़ाही चढ़ा दी थी और बैठा चूल्हे को घौंक रहा था। पास ही आल्यूमिनियम की एक छोटी-सी तश्तरी में मछलियों के टुकड़े पड़े थे और उनसे गंध आ रही थी।

सूरज प्रायः डूब चुका था और हल्का अँधेरा हो चला था। नाव लहरों के सहारे धीरे-धीरे चली जा रही थी और अब भी मझधार से कोई पचीस हाथ दूर ही थे।

“ऐसे कब तक पहुँचेंगे हम—उन्होंने उठते हुए सवाल किया और बिल्कुल मेरे पास आकर खड़ी गई।

मैंने कहा—“अभी तो आधी दूरी भी तय नहीं हुई है। शायद दो घंटे और लगेंगे।”

कहकर मैंने उन्हें देखा। वे कुछ व्याकुल-सी दीख पड़ीं। क्षण भर रुक कर वे बोलीं—“सोचा था, नाव से जल्द पहुँच जाऊँगी। स्टीमर का भरोसा क्या? लेकिन इस रफ्तार से तो...” कहते-कहते वे रुक गईं और आकाश में क्रमशः घने होते हुए अंधकार में उनकी दृष्टि खो गई।

मुझे उनकी इस व्याकुलता से बड़ी सहानुभूति हो आई। क्या पता, बीतता हुआ कौन-सा क्षण उनके लिए निर्णायक हो जायगा। वे कुछ सोचती हुई-सी धीरे-धीरे जाकर पतवार वाले सिरे पर बैठ गईं। मैंने जिज्ञासा की—“जल्द पहुँचना बहुत जरूरी है क्या?”

“हाँ” वे बोलीं... “मेरे लिये यह प्रत्येक क्षण महत्वपूर्ण है।”

इस महत्वपूर्ण शब्द से उत्सुक होकर मैंने आगे पूछना चाहा, लेकिन नहीं पूछा। इस टूक भर परिचय के लिए उतनी ही जिज्ञासा और सहानुभूति यथेष्ट थी। मैंने कल्पना की और उत्सुकता को तुष्ट करने लगा।

ओ मत्स्यगंधा !

एक हल्के झटके से ध्यान टूटा । देखा, वे हाथों में पतवार थामे बैठी थीं और माभी उनसे कह रहा था—“नहीं, आपसे यह नहीं होगा । बस, इन्हें तल लूँ, फिर पाँच मिनट में किनारे उतार दूँगा ।”

माभी ने मछली के दो टुकड़े कड़ाही में छोड़ दिए । अपनी ओर मुझे यों देखते देखकर वे किंचित् मुस्काई और उठ खड़ी हुई । बिल्कुल मेरे समीप आकर बैठते हुए पूछा...“मझधार बीत गई न ?”

मैंने बाँस की लगगी में लटकती हुई उस मद्धिम लालटेन को मुड़कर देखते हुए, जो दस हाथ पीछे छूट गई थी, कहा...“हाँ ।”

“लेकिन, ऐसे कैसे होगा ?” कहकर वे फिर व्याकुल होकर उठीं और बड़ी कातर दृष्टि माभी पर डाली । माभी की तश्तरी में मछलियों के टुकड़े तले जाने को पड़े थे और वह दो टुकड़े कड़ाही में डालकर चूल्हे को धौंक रहा था । इस बार मुझे भी गुस्सा आया । कोई जरूरी था कि इसी यात्रा में मछलियाँ तल ली जाएँ ? मगर मैंने कुछ कहा नहीं । कहने को होकर उसे चुपचाप चूल्हा धौंकते देखता रहा । वे फिर आकर मेरे समीप बैठ गईं और दूर उस पार जली बस्तियों को बड़ी व्याकुलता से देखने लगीं ।

वे फिर कब अपनी व्याकुलता से प्रेरित होकर मेरे समीप से उठ खड़ी हुई थीं, यह मैं न जान सका । पता चला, जब वे माभी के निकट जाकर कह रही थीं, “सुनो, तुम उठो, मैं मछलियाँ तल देती हूँ ।”

मुझे इस प्रस्ताव से थोड़ा आश्चर्य हुआ । माभी ने एकबार गौर से उन्हें देखा और जैसे कुछ कहने जाकर सहसा उनकी व्याकुलता को लक्ष्य कर चुप हो रहा और जाकर पतवार थाम लिए । वे क्षण भर चुपचाप खड़ी कड़ाही में पड़े मछली के टुकड़ों को देखती रहीं और न जाने क्या सोचती रहीं, फिर कपड़े सँभालकर चूल्हे के पास पड़े लकड़ी के पीढ़े पर बैठ गईं । मेरे मन में हुआ कि उठूँ और माभी को पुकार कर कहूँ कि माभी, अरे ओ माभी, तुमने अवश्य पिछले जन्म में कोई सुकर्म किया होगा, तभी...।

ओ मत्स्यगंधा !

लेकिन, इस पूरे दृश्य से मैं इतना अभिभूत हो उठा था कि चुपचाप बैठा देखता रह गया ।

वे मछली के अन्य दो टुकड़े कड़ाही में डालकर बड़े मनोयोगपूर्वक बैठी थीं और चूल्हे की अग्नि की रक्तिमा उनके गौर मुखमंडल को दीपित कर रही थी । मुझे लगा, मैं आबद्ध हो रहा हूँ और चूल्हे के समीप बैठी माभी की मछलियाँ तलती हुई यह युवती मुझे ग्होन्मुख कर रही है । मैं तो यायावर हूँ, जो प्रत्येक देश-युग-काल में क्वारा रहा, कभी ग्हस्थ नहीं हुआ, इसीलिए कि किसी देश-युग-काल में ऐसी कोई नारी उत्पन्न नहीं हुई, जो मेरी उर्जस्विता को तत्सम होकर धारण कर सके; कहीं कोई ऐसा घर न बन सका, जो मेरे अहम् के आकांचित विराट् को स्थान दे सके । किन्तु, जाने क्यों, मुझे लगा कि मैं व्याकुल हो रहा हूँ, कोई महत्वाकांक्षा मुझे इस अणिमा की ओर प्रेरित कर रही है और मैं चाहता हूँ कि यह अणिमा मुझे स्वीकार करे, धारण करे, ग्ह में स्थापित करे । अनुभूति से मैं पौराणिक हो उठा हूँ । मेरे व्यक्तित्व में एक पराशर व्याप्त हो रहा है । मेरा तप, मेरा वैराग्य, मेरी अन्तर्हीन यात्रा, मेरी महिमा खलित हो रही है । नदी है । क्रमशः घना होता हुआ अँधेरा है । माभी नहीं है, सामने मत्स्यगंधा बैठी है और उसके युवा तन से मछली की गंध आती है । मैं व्याकुल हो उठा हूँ और मेरी आत्मा की अतलान्त गहराइयों में एक ही शब्द प्रतिध्वनित हो रहा है, मत्स्यगंधा, ओ मत्स्यगंधा !

सहसा माभी ने मुझे छूकर सजग करते हुए कहा, “उतरिएगा नहीं ?” मैंने चौक कर सामने देखा । मैं कहाँ हूँ ? चूल्हा बुझ चुका था और तश्तरी में पड़ी तली मछलियों से एक विचित्र प्रकार की गंध आ रही थी । वे सम्भवतः चली गई थीं । मुझे अपने पर बड़ी हँसी आयी । कितना भावुक हूँ मैं । मत्स्यगंधा ! कितनी विचित्र कल्पना है ! मत्स्यगंधा पराशर से परिचित भी नहीं होती, सिर्फ माभी की मछलियाँ तलकर चली जाती है ।



